ॐ

वैदिक धर्म के अमूल्य ग्रंथ ।

[१] योग-साधन-माला ।

१ संध्योपासना । योगकी रीतिसे संध्या करनेकी पद्धति । मूल्य १॥) डेढ रु. ।

२ संध्याका अनुष्ठान । मू. ॥) आठ आने ।

३ वैदिक-प्राण-विद्या । प्राणायामपूर्वार्ध । मूल्य १) एक रु. ।

४ ब्रह्मचर्य । सचित्र । वीर्य रक्षणके उपाय । मूल्य १।) सवा रु. ।

५ योगसाधन की तैयारी । मूल्य १) एक रु. ।

६ आसन । शरीरस्वास्थ्य के व्यायाम । मू. २) दो रु.

[२] उपनिषद्-ग्रंथ-माला ।

१ "ईश" उपनिषद् की व्याख्या । मू. ॥।≈) चौदह आने ।

२ "केन" उपनिषद् की व्याख्या । मू. १।) सवा रु. ।

[३] आगम-निबंध-माला ।

१ वैदिक-राज्य-पद्धति । मू. ।≈) पांच आने ।

२ मानवी-आयुष्य । मू. ।) चार आने ।

३ वैदिक सभ्यता । मू. ॥।) बारह आने ।

४ वैदिक-चिकित्सा-शास्त्र । मू. ।) चार आने ।

५ वैदिक स्वराज्य की महिमा । मू. ॥) आठ आने ।

६ वैदिक सर्पविद्या । मू. ॥) आठ आने ।

७ मृत्युको दूर करनेका उपाय । मू. ॥) आठ आने ।

८ वेदमें चरखा । मू ॥) आठ आने ।

९ शिवसंकल्पका विजय । मू. ॥।) बारह आने ।

१० वैदिकधर्मकी विशेषता । मू. ॥) आठ आने ।

११ तर्कसे वेदका अर्थ । मू ॥) आठ आणे ।

१२ वेदमें रोगजंतु शास्त्र । मू. ≡) तीन आने ।

देवता-परिचय-ग्रंथमाला । ग्रंथ ५

ॐ

वैदिक
अग्नि विद्या ।

लेखक और प्रकाशक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथमवार १०००

संवत् १९८०, शक १८४५, सन १९२३

मुद्रकः—चिंतामण सखाराम देवळे, मुंबई वैभव प्रेस, सर्व्हंट्स् ऑफ
इंडिया सोसायटीज होम, सँढर्स्टरोड गिरगांव-मुंबई.

प्रकाशकः—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय मंडल,
औंध (जि. सातारा)

ओं

अग्नि देवता का परिचय।

(१) विषयप्रवेश।

वेदकी "अग्नि–विद्या" ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये सबसे प्रथम "अग्नि देवताका परिचय" होनेकी आवश्यकता है। देवता का परिचय होनेके विना मंत्रका आशय समझना अशक्य है। इस कारण हरएक देवताके विषयमें निश्चित ज्ञान होनेके लिये उस उस देवताके संपूर्ण मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करके, प्रत्येक देवताका मंत्रोक्त स्वरूप निश्चित करनेका यत्न होनेकी आवश्यकता है। वेदके मंत्रोंमें देवताका जो स्वरूप है, किसी अंशतक ब्राह्मणोंमें भी वही स्वरूप रहा है। परंतु आगे जाकर पुराणोंमें उसका स्वरूप बिलकुल भिन्न हुआ है। इस बातको जो नहीं समझते, वे पुराणोक्त देवताको वेदमंत्रोंमें देखनेका यत्न करते हैं, और वास्तविक वैदिक आशयसे दूरही रहते हैं। इस लिये अध्ययन करनेवालोंको उचित है कि, वे वेदमंत्रोंके अध्ययनसे वैदिक देवताका वैदिक स्वरूपही जाननेका यत्न करें। तथा जो विद्वान् इन देवताओंका रूपान्तर पुराणोंमें देखना चाहते हैं, वे वेद और पुराणोंका तुलनात्मक अभ्यास करें, और दोनों कल्पना-

ओंमें समानता कहां है, और विषमता कहां है, इसका निश्चय करें। ऐसा जिन्होंने किया नहीं है, उनके कथनमें बडी अशुद्धियां हुई हैं; इस लिये इस विषयमें पूर्वोक्त प्रकार सावधानता रखनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

यहां इस निबंधमें अग्नि देवताका वैदिक स्वरूप निश्चित करनेका यत्न करना है। इस प्रकारका यह प्रयत्न पहिलाही होनेके कारण, इसमें स्खलन होना संभवनीय है, तथापि आशा की जा सकती हैं कि, इस रीतिसे और अधिक अभ्यास हो गया, तो निश्चित विधान करनेकी संभावना हो सकती है। यह कार्य इतना महान् है कि, किसी एक व्यक्तिसे होना असंभव है, सैंकडों विद्वानोंकोभी अपना जन्म इस कार्यके लिये समर्पित करना आवश्यक है, तथा धनिकोंको भी अपना धन इस कार्यके लिये समर्पण करनेकी सद्बुद्धि होनी चाहिये। परंतु दोनों बातें इस समय होनीं कठिन दीखतीं हैं। इस लिये ऐसी एकाकी अवस्थामें जो कुच्छ अल्प कार्य होना संभव है, उतनाही करना है। क्योंकि वास्तविक रीतिसे देखा जाय, तो **"साधन ग्रंथोंकी रचना"** सबसे पहिले होनी चाहिये थी। साधन ग्रंथोंके होनेसे देवता निश्चय आदि कार्य करना सुकर हो सकता है। परंतु साधन ग्रंथोंका निर्माण करना लाखों रुपयोंके व्ययसे होनेवाला होनेसे किसी एकसे होना असंभव है। तथा साधन ग्रंथोंके अभावमें देवता निश्चय आदि कार्य सदोष रहना अपरिहार्य है। इस लिये उक्त बात जानते हुए ही अपनेसे जितना हो सकता है, उतना करना है, शेष कार्य आगे आनेवाले

साधनसंपन्न विद्वान् ही करेंगे, वह कार्य आज ही नहीं हो सकता है। आज निर्दोष कार्य नहीं हो सकता, इस लिये जो कुछ हो सकता है, उतना भी नहीं करना योग्य नहीं है; क्यों कि सब ही शास्त्रीय संशोधनके कार्य इसी प्रकार शनैः शनैः हुए हैं।

(२) भाषामें अग्नि शब्दका भाव।

अग्निदेवताके स्वरूपका निश्चय इस लेखमें करना है। पाठक यहा कहेंगे कि, "अग्नि" के स्वरूपके निश्चय का तात्पर्य क्या है ? अग्नि शब्द "आग" का पर्याय है, और उसका उपयोग पकानेके समय हर एक दिन हम करते है। उसका स्वरूप सभी मनुष्य जानते हैं, इस लिये उसके स्वरूपका तो और क्या निश्चय करना है ? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि, यद्यपि "अग्नि" शब्द "आग" का वाचक है, तथापि वेदके अग्नि देवताके सब मंत्र "आग" का ही वर्णन कर रहे है, ऐसा मानना बडी मारी भूल है। लौकिक संस्कृत भाषामें भी "अग्नि" शब्दके आगके अतिरिक्त बहुतसे अन्य अर्थ हैं। जैसा—"अग्निजार वृक्ष, केशर, स्वर्ण, निंबू, भिलावा, चित्रक, रक्त-चित्रक, कापित्थाष्टक, जठराग्नि, पित्त" आदि अनेक अर्थ लौकिक संस्कृत भाषामें भी अग्नि शब्दके है। इस लिये "अग्नि" शब्द केवल "आग" का ही वाचक मानना गलती है। इसके अतिरिक्त अग्निवाचक कई ऐसे शब्द है कि, जो "आग" में कदापि सार्थ नहीं हो सकते, इनमेंसे कुछ यहां देखिये—

(३) अग्निके पर्याय शब्द।

(१) वैश्वानरः=विश्वमें (नर) पुरुषशक्ति, विश्वका चालक, (विश्व) सब (नर) मनुष्योंके संबंधसे होनेवाला, इत्यादि।

(२) धनंजयः=धनको जीतनेवाला, धन प्राप्त करनेवाला ।

(३) जातवेदाः=जिससे वेद उत्पन्न हुए हैं, जिससे धन उत्पन्न होता है, जिससे ज्ञान होता है ।

(४) तनूनपात्=(तनू) शरीरोंको (न—पात्) न गिरानेवाला, जिसके कारण शरीरोंका पतन नहीं होता ।

(५) रोहिताश्वः=लाल रंगके घोडोंसे युक्त ।

(६) हिरण्यरेताः=सुवर्णका वीर्य ।

(७) सप्तार्चिः=सात ज्वालाओंसे युक्त ।

(८) सप्तजिह्वः=सात जिह्वाओंसे युक्त ।

(९) सर्वदेवमुखः=सब देवोंमें प्रमुख, किंवा सब देवोंका मुख ।

इत्यादि शब्द " अग्नि " के पर्याय हैं, परंतु ये " आग " में सार्थ नहीं हो सकते। उक्त शब्दोंका भाव " आग " में नहीं दिखाई देता है, कमसे कम उक्त अर्थ आगमें चरितार्थ होनेका अनुभव नहीं है । इस लिये " अग्नि " शब्दका आशय आगसे भिन्न मानना आवश्यक ही है। वेदमंत्रोंको देखकर भी यही निश्चय होता है। देखिये—

(४) पहिला मानव " अग्नि " ।

पहिला जो मानव प्राणी हुआ था, उसका नाम " अग्नि " है, ऐसा वेदमें ही कहा है, देखिये—

> त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्नहुषस्य विश्पतिं॥ इळामकृण्वन्मनुषस्य शासनीं पितुर्यत् पुत्रो ममकस्य जायते ॥ ऋ. १।३१।११

" हे अग्ने ! (नहुषस्य विश्पात) मनुष्योंके नरपति रूप (त्वां प्रथमं आयुं) तुझ प्रथम मनुष्य को (देवाः) देवोंने (आयवे अकृण्वन्) मानवजातिके लिये बनाया है। (इळां) वाणीको (नहुषस्य शासनीं) मानव जातिकी शासनकर्त्री (अकृण्वन्) बनाई है। (यत् ममकस्य पितुः) जो ममत्वरूप पिताका पुत्र होता है।" उसके आगे वैसी ही संतति होती जाती है और वंशानुरूप वाणी आदिका प्रचार होता है। इस मंत्रका यह भाव देखनेसे निम्न बातोंका पता निःसंदेह लग जाता है—

(१) देवोंने जो पहिला मानव प्राणी बनाया उसीका नाम " **अग्नि** " था। मनुष्य जातिकी उत्पत्ति करनेकी इच्छासे देवोंने इस प्रथम मानव प्राणीको बनाया था।

(२) यही पहिला मानव मनुष्योंका पिता होनेसे इसीको (विश्-पति) नरपति अथवा नरेश कहते हैं।

(३) जिस प्रकार इस मानव प्राणीको प्रारंभमें देवोंने बनाया था, उसी प्रकार उसके साथ वाणीकी भी उत्पत्ति की गई थी। यही उसकी धर्मपत्नी भी मान सकते है।

(४) इस मानवमें ममता रखी गई है। इस ममत्वके कारण स्त्रीपुरुष इकठ्ठे होते हैं और आगे संतति बढाते हैं, इस लिये सब संतति इस " **ममत्व** " की ही है, और पिताकी वाणी संतान इसी कारण बोलते है।

निघंटु २।३ में मनुष्य नामोंमें " **आयवः** (**आयुः**), **नहुषः**, **विशः** " ये शब्द पठित होनेसे, इनका अर्थ मनुष्यही है। तथा

निघंटु १।११ में "इळा" शब्द वाङ्नामोंमें पठित होनेसे इसका अर्थ वाणी है। देवोंके द्वारा इस प्रकार जो "पहिला मनुष्य" बनाया गया उसका नाम अग्नि है, और उसकी पत्नी वाणी है। तात्पर्य, मनुष्योंमें भी अग्नि ह अर्थात् मानवप्राणी अग्नि शब्दसे वेदमें लिया जाता है। वेदमंत्रोंमें अग्निके अनेक अर्थ होंगे, परंतु उसमें एक "**मानव प्राणी**" है इसमें कोई शंका नहीं है। क्योंकि जो मानव प्राणी सबसे प्रारंभमें देवोंने बनाया, उसक वंशजोंमें भी वही भाव और वही वाणी होनेके कारण उसमें उसका "अग्निपन" भी उतरा ही है। पिताके गुणधर्म आनुवंशिक होकर पुत्रमें उतरते है, इसी रीतिसे पिताका अग्निपन पुत्रोंमें उतरा है। "अग्नि" का "वाणी" के साथ संबंध इस प्रकार माना गया है। मनुष्य उत्पन्न होनेके पूर्व पशुपक्षियोंकी अनेक योनियोमें अनेक प्राणी उत्पन्न हो गये थे, परंतु जैसी वाणीकी पूर्णता इस मनुष्यमें हुई है, वैसी किसी अन्य प्राणीमें नहीं हुई। इस लिये उक्त मंत्रमें कहा है कि, "**(१) जिस प्रकार मनुष्यरूप अग्निको मानव जातिके पितृस्थानमें देवोंने उत्पन्न किया, (२) उसी प्रकार वाणीको मानव जातिकी शासन-कर्त्री देवोंने बनाई**" और मानव का इस वाणीके साथ संबंध भी कर दिया है। इस लिये वाणी मनुष्यकीही अर्धांगी है। अन्य प्राणि-योंमें और मनुष्योंमें यदि किसी विशेष गुणके कारण भेद है, तो इस वाणीके कारणही है। मनुष्यने इस वाणीके कारणही इतनी उन्नति की है, अनादि कालसे जो ज्ञानका संग्रह हो रहा है, वह वाणीके कारण ही है, और यह ज्ञानही, जो वाणीद्वारा प्राप्त हो रहा है वही,

मानव जातीका शासन कर रहा है। इस प्रकार देखनेसे पता लग सकता है, कि वेदका कथन कितना ठीक है। तात्पर्य (१) पहिला मानव प्राणी अग्नि है (२) और उसकी " अग्नायी " वाणी ही है।

अग्नि	अग्नायी
प्रथम मनुष्य	इळा (वाणी)
यम	यमी
शासक	शासनी
विश्पती	विश्पत्नी
पिता	माता
आदम	हव्वा

" इळा " शब्दका दूसरा अर्थ " भूमि " है। भूमि बीज बोनेके लिये होती है। मनुष्य अपना ज्ञानरूप बीज इस वाणीमें बोता है और इस प्रकार जो ज्ञानवृक्ष फैलता है, उसके फलही हम आज खा रहे हैं। इसके अतिरिक्त भूमि का अर्थ क्षेत्र है, और स्त्रीकोभी क्षेत्र कहते हैं, यह अर्थ लेनेसे यह तात्पर्य होगा कि, देवोंने एक पुरुष और एक स्त्री सबसे प्रथम निर्माण की। इस लिये कि यह पुरुष अपने वीर्यसे इस स्त्रीमें पुत्र और पुत्रियां उत्पन्न करे। आर इस प्रकार ममत्वसे संतति उत्पन्न हो। इसी रीतीसे यह संतति उत्पन्न हो गई है।

(५) वृषभ और धेनु।

" इळा " शब्दका तीसरा अर्थ " गाय " है और गायवाचक

" गो " शव्दके संस्कृतमें " वाणी, भूमि और गाय " ऐसे अर्थ हैं। तात्पर्य ये शब्द परस्परोंके वाचक हैं। इस भावको लेकर निम्न मंत्र देखिये–

असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदिते रुपस्थे। अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥ ऋ. १०। ५। ७

" (दक्षस्य जन्मन्) दक्षके जन्मके समय (अदितेः उपस्थे) अदितिके पास (परमे व्योमन्) परम आकाशमें असत् और सत् ये दो पदार्थ थे। अग्नि ही हमारा (ऋतस्य प्रथमजाः) ऋतका पहिला प्रवर्तक है और पूर्व आयुमें वृषभ और धेनु है। " पूर्व आयुमें अग्नि वृषभ था और उसकी धर्मपत्नी धेनु थी। वृषभ शब्दका अर्थ वीर्यवान् और धेनु शब्दका अर्थ वीर्यका धारण करनेवाली है। पूर्व-कोष्टकमें निम्न शब्द और मिलाइये–

अग्नि	अग्नायी
वृषभ	धेनुः
पुरुषशक्ति	स्त्रीशक्ति
क्षेत्रपति	इळा (क्षेत्र)
वाक्पति, गोपति	गौः (वाक्)

उक्त मंत्रमें भी कहा है कि " अग्नि पहिला प्रवर्तक " अर्थात् शासक है। अग्नि मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेके पूर्व आयुमें " **वृषभ** " रूपमें था। अर्थात् पशुरूपमें था, तत्पश्चात् वही मनुष्यरूपमें प्रकट हुआ है। यह कथन " **उत्क्रांतिवाद** " का सूचक है। वैदिक

उत्क्रांतिवादका तत्व बतानेके लिये इस निबंधमें स्थान नहीं है, तथापि उक्त बातमें उत्क्रांतिवादकी ध्वनि है, इतनाही यहां बताना है। इस प्रकार अग्नि न केवल मनुष्योंमें है, प्रत्युत पशुपक्षियोंमें भी है, यह बात उक्त कथनसे सिद्ध होती है। पशुपक्षियोंमें जो अग्नि होगा, उसका विचार हम किसी अन्य स्थानमें करेंगे, यहां मनुष्योंमें जो पहिला मानव अग्नि हुआ, उसीका अधिक विचार करना है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

(६) पहिला अंगिरा ऋषि।

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा। तव व्रते कवयो विद्मनापसो ऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥ ऋ. १।३१।१

हे अग्ने! (त्वं प्रथमः अंगिरा ऋषिः) तू पहिला अंगिरा ऋषि है। तू स्वयं (देवः) दिव्य शक्तिसे युक्त है और (देवानां शिवः सखा अभवः) देवोंका शुभ मित्र हुआ है। (तव व्रते) तेरे नियम में (विद्मनाऽपसः) ज्ञानयुक्त होकर पुरुषार्थ करनेवाले (मरुतः कवयः) मर्त्य कवि (भ्राज—दृष्टयः) तेजस्वी दृष्टिसे युक्त होते हैं।" इस मंत्रमें कहा है कि, पहिला " अंगिरा ऋषि " अग्नि ही है, यही पहिला मानव समझना उचित है। पहिला मानव जो अंगिरा ऋषि था, वही अग्नि नामसे प्रसिद्ध है। तथा और देखिये—

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतं। विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे॥ ऋ. १।३१।२

" हे अग्ने ! तू (प्रथमः अंगिरस्तमः कविः) अंगिरसोंमें पहिला कवि है और (देवानां व्रतं) देवोंका व्रत सुभूषित करता है । तू (विभूः) विशेष प्रकार होनेवाला (विश्वस्मै भुवनाय) सब भुवनों अर्थात् बने हुए प्राणी आदिकोंके लिये (मेधि-रः) बुद्धिसे प्रकाशित करनेवाला, (द्विमाता) दोनों पुरुषार्थोंका निर्माता तथा (आयवे) मनुष्यमात्रके लिये (कतिधा चित्) कई प्रकारसे (शयुः) आराम देनेवाला है । "

इस मंत्रमें कहा है कि, अंगिरसों में सबसे पहिला कवि अग्नि ही है । यही मनुष्योंमें पहिला मानव अग्नि है । वाणी इसके साथ उत्पन्न होनेके कारण ही यह कवि है । यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि, यदि पहिला मानव प्राणी ही अग्नि है, तो उसीकी संतति भी अग्निरूप ही होनी चाहिये, अर्थात् जैसा एक मानव प्राणी अग्नि है, उसी प्रकार मानव जाती भी अग्नि ही होनी चाहिये । जैसी एक व्यक्ति होती है, वैसाही उसका समाज होता है, इस सार्वमानुष अग्निका वर्णन निम्न मंत्रमें हुआ है देखिये—

(७) वैश्वानर अग्नि ।

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतो विभावा ॥ शातवनेये शतिनीभिरग्निः पुरुणीथे जरते सूनृतावान् ॥ ऋ. १।५९।७

" वैश्वानर अग्नि अपने महत्वसे (विश्व-कृष्टिः) सर्व मनुष्य

ही है। (भरत्—वाजेषु) पोषक अन्नोंके यज्ञोंमें (यजतः) पूजनीय और (विभावा) विशेष प्रभावयुक्त है। (सूनृता—वान्) सत्य वाणीसे युक्त होनेके कारण यह (अग्निः) सर्व मनुष्यरूप अग्नि (शात—वनेये) सेंकडों द्वारा जहां सेवन होता है, ऐसे (पुरु—नीथे) बहुतोंके नेतृत्वसे चलनेवाले कार्योंमें (शतिनीभिः) सेंकडोंकी संख्याओंसे (जरते) प्रशंसित होता है।"

" **विश्व+कृष्टिः** " अर्थात् " सर्व—मनुष्य " रूप ही यह अग्नि है। मनुष्यों का समाज रूप ही यह अग्नि है। इसीका नाम "**वैश्वा+नर**" अग्नि है। " **विश्व—नर** " शब्दका अर्थ भी "**सर्व मनुष्य**" ही है। सब मनुष्योंका जो एक संघ होता है, उसके अंदर एक प्रकारका तेज रहता है, यही वैश्वानर अग्नि है। इसको " राष्ट्रीय जीवनाग्नि " अथवा " सामाजिक जीवनाग्नि " समझिये। इसके छोटे नाम " राष्ट्राग्नि, सामाजिक अग्नि " हैं। इसकी पूजा उन यज्ञोंमें होती है, कि जिनमें (भरत्—वाज) अन्न और बलका संवर्धन करना होता है। संघके कारण बल संवर्धन होना प्रत्यक्ष ही है, इस लिये जिस जातिमें अपना बल बढानेकी सदिच्छा होती है उसीमें " **वैश्वानर आग्निकी उपासना** " की जाती है। मानवसंघरूप अग्निकी उपासना वेही करेंगे कि, जो संघशक्ति बढाना चाहते है। वैश्वानर में (विश्व—नर) सब मनुष्योंकी अभेद्य संघशक्तिकी निश्चित कल्पना है। वहीभाव " विश्व कृष्टिमें है। इस शब्दका भाव श्री-सायणाचार्य निम्न प्रकार देते हैं—

विश्वकृष्टिः । कृष्टिरिति मनुष्य नाम । विश्वे सर्वे मनुष्याः यस्य स्वभूताः स तथोक्तः ।

ऋ. सायनभाष्य १।५९।७

वैश्वानरः सर्वनेता । विश्वकृषिः विश्वाः सर्वाः कृष्टीर्मनुष्यादिकाः प्रजाः ॥ ऋ. दयानंदभाष्य १।५९।७

सायन भाष्य—कृष्टि मनुष्यवाचक शब्द है । सब मनुष्य जिसके लिये अपनेही निज होते है वह विश्वकृष्टि है । **दयानंदभाष्य**—वैश्वानर सबका नेता है । विश्वकृष्टि सब प्रजाओंका संघ है ।

दोनों भाष्यकारोंके उक्त अर्थ देखने योग्य हैं । सब प्रजाओंका जो एक अभेद्य संघ होता है, उसका नाम " **विश्व—कृष्टि अग्नि** " है । इसीका वर्णन निम्नमंत्रमें देखिये—

स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता ॥
विप्रेभिरस्तु सनिता ॥ ऋ. १।२७।९

" वह (विश्व—चर्षणिः) सर्व—मनुष्यरूप अग्नि (अर्वद्भिः) फूर्तिवालोंके साथ (वाजं) युद्धके (तरुता) पार होनेवाला और (विप्रेभिः) ज्ञातियोंके साथ (सनिता) पूज्य (अस्तु) होवे । "

(८) ब्राह्मण और क्षत्रिय ।

मानवजातिरूप जो जो समाज है, वह पुरुषार्थीयोंके प्रयत्नों द्वारा आपत्तिमेंसे पार होता है, और ज्ञानियोंके उद्योगसे पूज्य होता है । " अर्वन् " शब्द " गमन करनेवाला, हलचल करनेवाला, प्रयत्नशील, पुरुषार्थी, घोडा जिसके पास है, घुडस्वार " इन अर्थोंमें

प्रयुक्त होता है। इसलिये यह क्षत्रियोंका सूचक है, तथा "विप्र" शब्द विशेषतः ज्ञानीका भाव बताता है, इस लिये ब्राह्मणोंका बोधक है। यह अर्थ लेनेसे उक्त मंत्रका भाव निम्न प्रकार बनता है " सर्व-मनुष्य-संघ रूपी जो अग्नि है, वह क्षत्रियोंके प्रयत्नोंसे युद्धोंमे यशस्वी होता है, और ब्राह्मणोंके प्रयत्नसे वंदनीय होता है, ।" इस प्रकार क्षत्रियों और ब्राह्मणोंके द्वारा इस मानवसंघ की उन्नति होती रहती है। ब्राह्मण क्षत्रियोंके संघका महत्व वेदमें अन्यत्र बहुत स्थानोंपर वर्णन किया है, देखिये—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह ॥
तं देशं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

वा. य. २०।२५

" जहां (ब्रह्म क्षत्रं च) ब्राह्मण और क्षत्रिय (सम्यंचौ सह चरतः) मिल कर हलचल करते हैं, वही पुण्यदेश है, और (प्रज्ञा–इषं) बुद्धिसे इच्छा करने योग्य है, तथा वहांही देव अग्निके साथ रहते हैं।"

ब्राह्मण क्षत्रियोंकी मिलजुलकर जो हलचल होती है, वही राष्ट्रीय हलचल होती है, क्योंकि येही राष्ट्रके प्रधान अवयव है। वास्तवमें यह ब्राह्मणक्षत्रियोंकी हलचल नहीं है, परंतु (ब्रह्म क्षत्रं) ज्ञान और पुरुषार्थकी संघटित हलचलही है। जहां ज्ञान और कर्मका संघ-टित कार्य होता है, वहांही सिद्धि मिलती है। इस प्रकार जो अभेद्य संघ होता है, उसीका नाम " विश्व–कृष्टि " अग्नि है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

मंद्रं होतारं शुचिमद्वयाविनं दमूनसमुक्थ्यं विश्व-चर्षणिम्॥ रथं न चित्रं वपुषाय दर्शतं मनुर्हितं सदमिद् राय ईमहे ॥ ऋ. ३।२।१५

"(मंद्रं) आनंदकारक (होतारं) दाता (शुचिं) पवित्र (अ-द्वयाविनं) द्वैत अर्थात् झगडा जिसमें नहीं है, (दमूनसं) संयमी, (उक्थ्यं) प्रशंसनीय, (मनुः—हितं) मनुष्यमात्रका हित करनेमें तत्पर ऐसे (विश्व—चर्षणिं) सर्व—मनुष्यसंघरूप अग्निकी (सदं इत्) सदा (राये) श्रेष्ठ ऐश्वर्यके लिये (ईमहे) हम प्राप्ति करते हैं, जिस प्रकार सुंदर दर्शनीय आकृतिसे युक्त रथकी प्राप्ति की जाती है ।"

इस मंत्रमें "**सार्व—मानुष अग्नि**" के कई गुण वर्णन किये हैं, उनका विचार करनेसे "**राष्ट्राग्नि**" का स्वरूप ठीक ध्यानमें आसकता है । "**अ+द्वयाविन्**"=यह शब्द जाति जातिके आपसके झगडोंका निषेध कर रहा है । जिनमें आपसके झगडे नहीं हैं, परस्पर कपट और ईर्ष्याद्वेषके भाव नहीं हैं और जो मानवसंघ एकतासे अपनी शक्ति बढा रहा है, परस्पर अभेद्य ऐक्य करके जो उन्नति प्राप्त कर रहा है, और जो निष्कपट भावके आचरण करनेके कारण उन्नत हो रहा है, उस प्रकारका अभेद्य मानवसंघ इस शब्दसे बोधित हो रहा है । "**मनुः+हितं**" मनुष्यमात्रका हित करनेवाला, यह भाव इस शब्दमें है । मानवसंघ निष्कपट भावसे जो कार्य करेगा, उससे संपूर्ण मनुष्योंकाही हित होगा, इसमें संदेहही नहीं हो सकता । "**दमू—नस्**"=जिसका मन स्वाधीन है, अर्थात् जो संयमी है ।

तात्पर्य, जो नियमोंसे बंधा है और नियमानुकूल चल रहा है। नियम छोड कर स्वेच्छासे जो स्वैर वर्तन नहीं करता, इस प्रकारका जो मनुष्य तथा मानव संघ होता है, वही उन्नति प्राप्त कर सकता है। इन शब्दोंके विचारसे वैदिक राष्ट्रीय अग्निका पता लग सकता है। इसके संवर्धनका उपाय देखिये—

(९) अग्निसंवर्धन।

अग्निं घृतेन वावृधुः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणिम्॥
स्वाधीभिर्वचस्युभिः॥ ऋ. ९।१४।६

"(विश्व–चर्षणिं अग्निं) सार्व–मानुष अग्निको (घृतेन) तेजस्वितासे (स्तोमेभिः) संघ भावसे (स्वा–धीभिः) आत्म–बुद्धिसे तथा (वचस्युभिः) वाणीके योगसे (वावृधुः) बढाते है।" यह मंत्र विशेष अर्थसे प्रयुक्त हुआ है। "घृत" शब्दके दो अर्थ है, **घी और तेजस्विता। "स्तोम"** शब्दके दो अर्थ है, **यज्ञ और संघभाव** (group, assemblage)। "**स्वा–धी**" शब्दके दो अर्थ हैं, **अध्ययन और आत्मबुद्धि। "वचस्+यु"** के दो अर्थ है, प्रशंसाकी इच्छा और मंत्रणा, सुविचार इ० ॥ ये सब अर्थ लेकर सार्वजनिक भाव दर्शक उक्त मंत्रका तात्पर्य निम्न प्रकार है= "**सर्व-मानव–संघरूप जो अग्नि है वह तेजस्विता, संघ–भाव, आत्म–बुद्धि तथा सुविचारसे बढाया जाता है।**" मनुष्य संघका हित इन गुणोंसे होता है। इस लिये जिस राष्ट्रको अपना उद्धार करना है, उसको चाहिये कि, वह अपने अंदर तेजस्विता, संघभाव

एकता, आत्मबुद्धि, तथा सुविचार आदिगुण बढावे । यही राष्ट्रीय उन्नतिका मूल मंत्र है । अस्तु उक्त मंत्रमें सार्वमानुष अग्निकी उन्नतिका मार्ग बताया है । यह सार्वजनिक अग्नि क्या देता है, इसका वर्णन निम्न मंत्रमें देखने योग्य है—

अग्नि र्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः ॥
अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं
स्तोतृभ्य आभर ॥ ऋ. ५।६।३

" यह (विश्व–चर्षणिः अग्निः) सार्वमानुष अग्नि (विशे) प्रजाओंके लिये (वाजिनं) अन्नयुक्त बल देता है । यह अग्नि संतुष्ट (प्रीतः) होकर (राये) ऐश्वर्यके लिये (सु+आभुवं वार्यं इषं) उत्तम प्रभाव युक्त वरणीय इष्ट (याति) प्राप्त करता है । यह सब याजकोंको भर दो । "

मानवसंघरूप यह अग्नि यदि संतुष्ट हुआ, तो सब प्रजाओंको अन्न, बल, संतति, यश, प्रभाव, ऐश्वर्य तथा हरएक इष्ट सुख देता है । इस लिये इसकी संतुष्टि सिद्ध करनी चाहिये । संघ, समाज और राष्ट्रकी संतुष्टि उसके स्वातंत्र्यके संरक्षणसे होती है । व्यक्ति-स्वातंत्र्य और संघका नियमन योग्य रीतिसे होनेसे इसकी संतुष्टता होती है । व्यक्तिस्वातंत्र्य संघभावका घातक न हो और संघभाव व्यक्तिको परतंत्र न बनावे; यह उपदेश निम्न मंत्रोंमें कहा है—

(१०) व्यक्तिभाव और संघभाव ।

(१) अंधंतमः प्रविशंति येऽसंभूतिमुपासते ।

ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥९॥

(२) अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

(३) संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते॥११॥

वा. य. ४०; ईश. उ. १२–१४

"(१) जो (अ–सं–भूति) केवल अ–संघभाव अर्थात् व्यक्तिभावकी उपासना करते है, वे अंधकारमें गिरते है; तथा उससे घने अंधकारमें वे पहुंचते हैं, कि जो केवल (सं–भूत्यां) संघभावमें ही रमते है ॥ (२) संघभावका फल भिन्न है, और व्यक्ति-भावका फल भिन्न है, ऐसा धीर लोग कहते आये है ॥ (३) संघभाव और असंघभाव किंवा व्यक्तिभावको जो साथ साथ उपयोगी समझते है, वे व्यक्तिभावसे अपमृत्यु आदिके कष्ट दूर करके संघभावसे अमर होते है ॥"

संघभावकी उपासना करनेकी वैदिक रीति इसमें दी है । केवल संघभाव बढाया गया, तो व्यक्तिकी सत्ता दब जाती है, और व्यक्ति-स्वातंत्र्य नष्ट होनेसे प्रत्येक व्यक्तिमें परतंत्रता बढनेसे सब समाज कालांतरसे परतंत्र हो जाता है, यह दोष संघभावका अतिरेक करनेसे होता है । तथा जो व्यक्तिस्वातंत्र्यको हद्दसे अधिक बढाते हैं, उनमें संघशक्ति बढ नहीं सकती, क्यों कि हरएक व्यक्ति किसी एक नियंत्रणामें बद्ध नहीं होती । इस लिये उक्त गुण केवल अकेला

अकेलाही रहनेसे लाभदायक नहीं होता । परंतु संघभावसे बल बढता है और व्यक्तिस्वातंत्र्यसे हरएककी शक्ति विकसित होती है, यह देख कर बुद्धिमान पुरुष युक्तिसे संघभावकोभी बढाते हैं और व्यक्तिस्वातंत्र्यको भी नियमसे रखते है । इस प्रकार करनेसे वैयक्तिक शक्तियोंकी वृद्धि होती है, और संघभावसे समाजमें बलभी बढ जाता है । यही समविकास का वैदिक सिद्धांत है और मानव-संघकी सच्ची उन्नति करनेका यही उपाय है । इस रीतिसे जो जनता अपना समविकास करती है, उनका समाज अथवा राष्ट्र प्रसन्न होता है और उन प्रजाजनोंमें पूर्वमंत्रोक्त आनंद वसता है । इस संघरूप अग्निसे और एक लाभ होता है, वहभी यहां देखिये---

(११) संघशक्तिका अद्भुत बल ।

स हि ष्मा विश्वचर्षणिरभिमाति सहो दधे ॥
अग्न एषु क्षयेष्वा रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत्
पावक दीदिहि ॥ ऋ. ५।२३।४

" वह (विश्व-चर्षणिः) सार्व-मानुष अग्नि (अभिमाति) शत्रुका नाश करनेका (सहः) बल (दधे) धारण करता है । हे (शुक्र अग्ने) शुद्ध अग्ने । हमारे (क्षयेषु) स्थानोंमें (रेवन्) धनयुक्त (दीदिहि) प्रकाश रखो । हे (द्युमत् पावक) तेजस्वी शुद्धिकर्ता ! प्रकाश करो । "

सर्व मनुष्योंके संघका जो एक राष्ट्राग्नि है, वह शत्रुका नाश करनेका बल अपने राष्ट्रमें रखता है । इसका तात्पर्य स्पष्ट ही है । संघशक्तिसे समाजमें जो एकता वसती है, उससे उस समाजमें इतना

बल बढ जाता है कि, उसके सामने कोई शत्रु ठहर नहीं सकता। जो अपनी राष्ट्रीयताका विकास करना चाहते है उनको इस मंत्रसे बहुत ही बोध मिल सकता है। जो राष्ट्र अपनी संघशक्ति बढायेगा, उसकी शक्ति भी वैसी ही प्रचंड हो जायगी।

विश्वचर्षणिः=विश्वे चर्षणयो मनुष्या रक्षणीया यस्य ”

ऋ. सायनभाष्य १।६।२

“ सब मनुष्य जिसके रक्षणीय है, उसका नाम विश्वचर्षणि है। यह सार्वमानुष अग्नि है। सब मनुष्योंका संघ ही यह अग्नि है। इसी प्रकार सर्व मनुष्योंके संघके दर्शक शब्द वेदमें बहुत है, देखिये—

विश्व+कृष्टिः=सर्व मनुष्य, सब कृषि करनेवाले।

विश्व+चर्षणिः= ” ” ” ” ”

विश्वायु (विश्व+आयुः)=सब मनुष्य।

विश्व+जन्य=सब जनोंके संबंधसे उत्पन्न।

पांच+जन्य=पंच जनोंके संबंधसे उत्पन्न। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषादोंके संघसे बननेवाला एक राष्ट्र।

विश्व+मानुषः=सब मनुष्योंसे बना हुआ संघ।

विश्वा+नरः
वैश्वा+नरः } =संपूर्ण मनुष्योंका संघ, अथवा सबका नेता।

सर्व+पुरुषः=सब पुरुषोंसे युक्त।

इन सब वैदिक शब्दोंका भाव अत्यंत स्पष्ट है, इस लिये इनका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं। तथा अग्नि देवतासे

भिन्न अन्य देवोंके मंत्रोंमें जो इस प्रकारके शब्दोंका प्रयोग हुआ है, उनका यहा अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो शब्द अग्निसूक्तोंमें आगये है, उनका विचार इसके पूर्व किया ही है। उसमें दिये मंत्रोंसे " **सर्व–जन–संघ** " की वैदिक कल्पना पाठकोंके मनमें आ चुकी होगी। यही संघात्मक अग्नि है, अथवा इसको राष्ट्रीय अग्नि भी कह सकते है। अस्तु। इस प्रकार हमनें देखा कि (१) एक मनुष्य भी अग्नि है और (२) मानवसंघ भी एक प्रकारका अग्नि है। यह स्पष्ट ही है कि, यदि एक मनुष्य अग्निरूप है, तो उसका संघ भी अग्निरूप ही होना चाहिये; तथा जो संघ अग्निरूप होगा, उसका एक अवयव भी अग्निरूपही होना चाहिये। तात्पर्य, मनुष्य और मानवसंघ ये दोनों अग्निरूप हैं। यही " **वैश्वानर अग्नि** " है। देखिये इसका वर्णन—

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिः ॥ ऋ. १।५९।७

" वैश्वानर आग्नि अपने महत्वसे सब–मनुष्य ही है। " इससे वैश्वानर अग्निकी उत्तम कल्पना हो सकती है। सब मनुष्योंका जो एक संघ है वही वैश्वानर है। " विश्व–नर " शब्दका अर्थ " सब —मनुष्य " ऐसा ही है, वही भाव वैश्वानर शब्दसे व्यक्त होता है। इसका और वर्णन देखिये—

(१२) जनताका केंद्र।

वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते॥ वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ ॥ ऋ. १।५९।१

" हे अग्ने ! (ते अन्ये अग्नयः) वे दूसरे अग्नि (त्वे) तेरे अंदर (वया इद्) शाखाओंके समानही हैं। वे सब अमृत अग्नि तेरेसे ही (मादयंते) हर्षित होते हैं। हे वैश्वानर अग्ने ! तू (क्षितीनां नाभिः) सब मनुष्यों का केंद्र है। तू (स्थूणा इव) स्तंभके समान (जनान्) सब जनताका तू आधार है। "

अग्निका अर्थ एक मनुष्य और वैश्वानरका अर्थ मनुष्यसंघ। ये अर्थ पहिले बताये ही हैं। ये अर्थ लेकर इस मंत्रका भाव निम्न प्रकार होता है। "हे मानव संघ ! ये सब मनुष्य तेरी शाखायें ही हैं। तेरे आधारसे ही ये सब मनुष्य अमर बने है। तू सब जनताका केंद्र है। जिस प्रकार स्तंभ आधार देता है, उस प्रकार तू ही इन सबका आधार है। "

(१३) समाजका अमरत्व।

संघ, समाज अथवा राष्ट्र सब मनुष्योंका आधार है, सबका केंद्र है, सबका उपास्य और सबका आधार है। सब मनुष्य संघभावसे ही अमर होते है। यद्यपि एक एक व्यक्ति मरती है, तथापि जाति अमर होती है।

संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ वा. य. ४०।११

" संघभावसे अमरत्व प्राप्त होता है। " यही भाव पूर्वोक्त मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंसे कहा है, देखिये—(१) सब अन्य मनुष्य राष्ट्रपुरुष की शाखाये है, राष्ट्रपुरुष वृक्ष है और जनता उसकी शाखायें फैलीं है। (२) राष्ट्रके आधारसे सब जनता अमर है, यद्यपि एक एक व्यक्ति मरती है, तथापि राष्ट्र अमर है। (४) राष्ट्रही सब

जनताका केंद्र है, (९) राष्ट्रही सब जनताका आधारस्तंभ है। वैश्वानरका अर्थ ठीक समझनेसे वेदमंत्रोंके अर्थ इस प्रकार सुगम हो जाते हैं। वैश्वानरकी उत्पत्तिके विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

तं त्वा देवासोऽजनयंत देवं
वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय ॥ ऋ. १।५९।२

"हे वैश्वानर! तुझे देवोंने देव बनाया है, क्योंकि तू आर्योंके लिये ज्योति है।" मानव संघरूपी यह देव देवोंके द्वारा इस लिये निर्माण हुआ कि, यह आर्योंके लिये उन्नतिका मार्ग बतानेवाला दीप बने। अर्थात् इसके तेजसे अपना उन्नतिका मार्ग आर्य देख सकते हैं, और चल कर अभ्युदय प्राप्त कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि, सब आर्योंको अपने राष्ट्रकोही देव मानना चाहिये और उसके साथ अपनी उन्नति प्राप्त करनी चाहिये। तथा—

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि ॥ या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा ॥ ऋ. १।५९।३

"जिस प्रकार सूर्यमें किरणें स्थिर है उसी प्रकार इस वैश्वानर अग्निमें धन स्थिर है। जो धन पर्वतों औषधियों और मनुष्योंमें है, उन सबका तू राजा है।"

(१४) सब धन संघका ही है।

सब धन मानवसंघकाही है। उसपर किसी व्यक्तिका अधिकार नहीं है। जो धन पर्वतोंमें, वृक्षों और वनस्पतियोंमें, तथा मनुष्योंमें

अथवा भूमि अगदेम है, वह सब मानवसंघकाही है। व्यक्तिके पास जो धन है, वह भी उस व्यक्तिको, प्रसंग आनेपर, संघके चरणोंपर न्यौछावर करना आवश्यक है। मनुष्योंके पास तन मन धन जो कुच्छ है वह सब जातीका ही है, इस लिये योग्य समय आतेही श्रेष्ठ पुरुष अपने सर्वस्वकी आहुति राष्ट्रपुरुषकी पूजा करनेके लिये अर्पण कर देते है। क्यों कि वही सर्वस्व का सच्चा राजा है। देखिये—

स्वर्वते सत्यशुष्माय पूर्वीर्वैश्वानराय नृतमाय यह्वीः ॥ ऋ. १।५९।४

(सु+अर्वते) उत्तम हलचल करनेवाले, (सत्य+शुष्माय) सच्चे बलवान् (नृ+तमाय) अत्यंत मनुष्योंसे युक्त (वैश्वा+नराय) सब मानव संघके लिये (पूर्वीः) सनातन (यह्वीः) बडी प्रशंसा होती है।" अर्थात् जो मानवसंघ किंवा राष्ट्र उत्तम हलचल करता है, सच्चा बल रखता है और संख्यामे अत्यंत अधिक मनुष्योंसे युक्त है, वही प्रशंसनीय है। इस लिये राष्ट्रीय उन्नति चाहनेवालोंको चाहिये कि, वे (सु+अर्वत्) अच्छी हलचल करें, (सत्य+शुष्म) सच्चा बल प्राप्त करें, (नृ+तमः) अपने मनुष्योंकी संख्या अधिकसे अधिक बढावें, ऐसा करनेसेही उसकी सर्वत्र प्रशंसा होगी। तथा और देखिये—

दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्ररिरिचे महित्वम्॥ राजा कृष्टीनामसि मानुषीणां युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥ ऋ. १।५९।५

"हे जातवेद वैश्वानर ! तेरी महिमा बडे द्युलोकसे भी अधिक फैली है। तू (मानुषीणां कृष्टीनां) मानवी प्रजाओंका राजा है। युद्धसे तूही देवोंके लिये धन देता है।"

मानवी संघकी महिमा सबसे बडी है, यही संघ मानवोंका राजा अर्थात् सच्चा राजा है, युद्धमें विजय इसीके कारण होता है। राष्ट्रीय भावनासे, जातीय महत्वाकांक्षासे, प्रेरित हो कर जो युद्ध करते है, उनका ही विजय होता है। देशके हितके लिये लडनेका उपदेश इस मंत्रसे सूचित होता है। इस प्रकार इस सूक्तमें मानव-संघका स्वरूप बताया है। यही वैश्वानर अग्नि है। इसका और वर्णन देखिये——

(१५) संघके विजयमें व्यक्तिका जय।

अस्माकमग्ने मघवत्सु धारयानामि क्षत्रमजरं सुवीर्यं ॥ वयं जयेम शतिनं सहस्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः ऋ. ६।८।६

"हे वैश्वानर अग्ने ! हमारे (मघ+वत्सु) धनिकोंमें उत्तम वीर्य-युक्त क्षात्र तेज धारण कर। तेरे संरक्षणोंसे हम सब सौ अथवा हजारों सैनिकोंके साथ हमला करनेवाले शत्रुको भी पराजित करेंगे।"

मानवसंघके प्रेमसे लडनेवालोंको इस प्रकार बल प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। जो अपने राष्ट्रहितके लिये जागते है, उनसे ही राष्ट्रकी उन्नति होती है इस विषयमें कहा है——

वैश्वानरो वावृधे जागृवद्भिः ॥ ऋ. ७।५।१

"मानव संघरूपअग्नि जागनेवालोंके द्वारा ही बढता है।" जो

लोग अपनी जातीय उन्नतिके लिये जागते हैं, वेही अपनी जातीय अथवा राष्ट्रीय उन्नति सिद्ध करते हैं। अस्तु। इस प्रकार सर्व मनुष्योंके संघरूप अग्निका वर्णन वेदमें हैं। इतने स्पष्टीकरण से पाठकोंको पता लगाही होगा कि, जिसप्रकार एक मनुष्य—विशेषतः पहिला मनुष्य—अग्नि है, उसी प्रकार मानव समाज भी अग्नि है। इसीलिये धर्मकर्मोंमें एक मनुष्यके साथ अग्नि उपासना का संबंध आता है; अग्निकार्य, हवन, आदि धार्मिक विधियोंमें वैयक्तिक अग्निकी उपासना है। तथा सामाजिक, जातीय, राष्ट्रीय अथवा सामुदायिक अग्नि पूजा भी सामाजिक अग्नि की द्योतक है, इस सामुदायिक पूजा का रूप अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, अश्वमेघ, वाजपेय आदि महान यज्ञोंमें दिखाई देता है। व्यक्तिगत आग्नि तथा सामुदायिक अग्नि जो कुंडोंमें जलाया जाता है, वह सबके मनोंका केंद्रीकरण करनेके लिये ही है। वास्तविक उसका स्वरूप वैयक्तिक और सामुदायिक दृष्टिसे जो वेदमंत्रोंमें है, वह ऊपर बताया ही है। अब वैयाक्तिक अग्निकी और अधिक खोज करनेकी आवश्यकता है, इसलिये निम्न मंत्र देखिये—

(१६) बुद्धिमें पहिला अग्नि।

अग्निं वो देव यज्ययाग्निं प्रयत्यध्वरे ॥ अग्निं धीषु
प्रथममग्निमर्वत्यग्निं क्षैत्राय साधसे ॥ ऋ. ८।७१।१२

"(१) (देव—यज्यया) देवोंके यज्ञसे आपके पास एक अग्नि है। (२) (अध्वरे प्रयति) यज्ञकी प्रगतिमें एक अग्नि है।

(३) (धीषु प्रथमं अग्निं) बुद्धियोंमें पहिला एक है। (४) (अर्वति अग्निं) हलचल करनेवालेमें एक अग्नि है। (५) (क्षैत्राय साधसे अग्निं) भूमिकी प्राप्ति करानेवाला एक अग्नि है। इन सबकी पूजा मै करता हूं " इस मंत्रमें पांच प्रकारकी अग्नियोंका वर्णन है। इनमें एक आग्नि है, जो यज्ञ कुंडमें प्रदीप्त होता है। दूसरा अग्नि बडे बडे अध्वरोंमें जलता रहता है। तीसरा अग्नि मनुष्योंकी बुद्धिमें है, जिसकी चेतनासे मनुष्य धारणाशक्तिके कार्य करता है। चौथा अग्नि सामुदायिक हलचल करनेवालोंमें होता है, इसलिये इनकी हल-चलसे जनतामें एक प्रकारकी आग जलती हुई दिखाई देती है। पाचवां अग्नि क्षत्रियोंमें जलता है, और उसके कारण वे अपने राज्यका विस्तार करते रहते है। इन पांच अग्नियोंमें पहिले तीन अग्नि ब्राह्मण्य के साथ विशेषतः संबंध रखते है, और आगेके दो अग्नि क्षत्रि-योंके साथ विशेष कर संबंध रखते है। जो पाठक इस मंत्रका विचार करेंगे, उनको " अग्नि " शब्दके व्यापक भावका पता लग सकता है। हवनों और यागोंमें जलनेवाला अग्नि और है, मानवी बुद्धियोंमें जलनेवाला " ज्ञानाग्नि " उससे भिन्न है। इस ज्ञानाग्निको प्रदीप्त करनेकी और उसमें ज्ञानके हवनकी विधि भी भिन्नही है। हलचल करके सामुदायिक जीवन पैदा करनेवालोंमें तथा राज्यविस्तार करनेवाले क्षत्रियोंके जोशमें जो अग्नि होता है, वह और ही है। विचार की दृष्टिसे इन अग्नियोंकी निश्चित कल्पना करनी चाहिये हवनों और यज्ञोंमें प्रयुक्त होनेवाला अग्नि सब जानते ही है।

इसलिये उसका अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। बुद्धिमें जो अग्नि किंवा ज्ञानाग्नि वसता है उसका विचार करना चाहिये। इस अग्निका स्वरूप " चित् " है। सत्, चित्, आनंदमें यही चित् है, यही आत्मा नामसे प्रसिद्ध है। इसके स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार है--

(१) **ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ॥** बृ. १।५।३

(२) **धियो यो नः प्रचोदयात्** । बृ. ६।३।६ ऋ. ३।६२।१०

(३) **इंद्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।**
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥ कठ. ३।१०

(४) **इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः।**
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ भ.गी. ३।४२

" (१) (ह्री) नम्रता, (धीः) बुद्धि, (भीः) भीति जो अधर्मसे उत्पन्न होती है, यह सब मन ही है। (२) जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है। (३) इंद्रियोंसे परे अर्थ है, अर्थोंसे मन परे है, मनसे बुद्धि परे है, और बुद्धिसे महान् आत्मा परे है। (४) विषयोंसे परे इंद्रिय, इंद्रियोंसे परे मन, मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे वही है। " बुद्धिके अंदर परंतु बुद्धिसे परे जो

अग्नि है वह आत्माग्नि ही है। इसकी स्थिति साथवाले चित्रमें बताई है। यह आत्माग्नि बुद्धिकी वेदीमें प्रज्वलित होता है। मन आदि इंद्रियां इसीमें विविध ज्ञान-संस्कारोंका हवन कर रही हैं, और इस प्रकार यह "ज्ञानयज्ञ" चल रहा है। बुद्धिके अंदर जो चिद्रूप पहिला अग्नि है वह यही आत्माग्नि है। मनुष्यको इसी आत्माग्निका प्रज्वलन करना चाहिये। यही आत्मशक्तिका विकास कहलाता है।

आत्मा
बुद्धि
मन
इंद्रिय
शरीर
जगत् के विषय
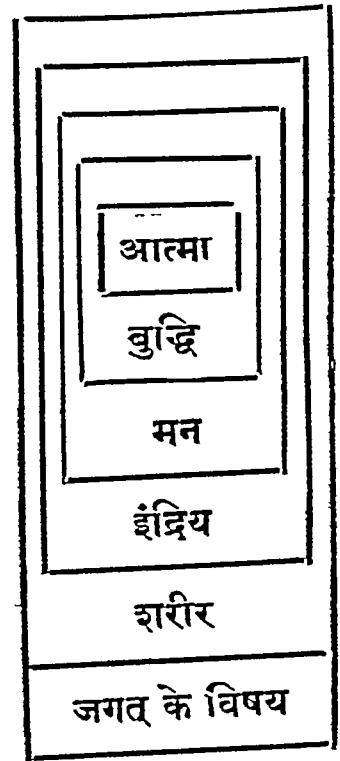
सामुदायिक हलचल करनेवालोंमें तथा राज्य वढानेवालोंमें जो उत्साही क्षात्राग्नि होता है, वह क्षत्रियोंके इतिहासमें सुप्रसिद्ध है। यह भी क्षात्रवुद्धिमें वसता है, और क्षत्रियोंको सुस्त रहने नहीं देता। अस्तु। ये सव अग्नि केवल "आग"के स्वरूपकेही नहीं है, प्रत्युत मानवी वुद्धिके ये शक्ति विशेष है। आत्मा वुद्धिके अंदर वैठा हुआ वुद्धि मन तथा इंद्रियादिकोंमें विशेष शक्तिकी प्रेरणा करता है। व्राह्म प्रवृत्ति, क्षात्रप्रवृत्ति तथा अन्य प्रवृत्तियां इसीसे निष्पन्न होती हैं। इस लिये यही आत्माग्नि मुख्य है और अन्य गौण अग्नि वहुतसे हैं।

इन सबका मूल बुद्धिमें जो पहिला प्रवर्तक आत्मा है, उसीमें है। इस आत्माग्निका और वर्णन देखिये—

(१७) पहिला मनन कर्ता अग्नि।

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म होता॥ त्वं सीं वृषन्नकृणोर्दुष्टरीतु सहो विश्वस्मै सहसे सहध्यै॥ ऋ. ६।१।१

" हे अग्ने! (त्वं प्रथमः मनोता) तू पहिला मनन कर्ता है। हे (दस्म) दर्शनीय! (अस्याः धियः होता अभवः) इस बुद्धिका हवन कर्ता तूही है। हे (वृषन्) बलवन्! तू (सीं) सब प्रकारसे (दुस्+तरीतुः) पार होनेके लिये कठिन (सहः) बल (विश्वस्मै सहसे) सब बलवान् शत्रुको (सहध्यै) पराजित करनेके लिये धारण (अकृणोः) करता है।"

इस मंत्रमें "अग्नि" का विशेषण "**मनोता**" है। श्री सायनाचार्य इस शब्दका अर्थ—**देवानां मनः यत्र ऊतं संबद्धं भवति तादृशः**" अर्थात् देवोंका मन जिसमें संबंधित होता है" ऐसा करते है। देव शब्दका एक अर्थ इंद्रियगण है। इंद्रियोंका मन आत्मामें संबंधित होता है, इसका सचित्र वर्णन इस से पूर्व कियाही है। इससे स्पष्ट होता है "**मनोता अग्नि**" वही आत्मा है कि, जिससे मन आदि सब इंद्रियां संबंधित होतीं है। इस विषयमें ऐतरेय ब्राह्मणमें निम्न प्रकार कहा है—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति।....तिस्रो वै देवानां

मनोतास्तासु हि तेषां मनांस्योतानि । वाग्वै देवाना मनोता, तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि । गौर्वै देवानां मनोता, तस्यां हि तेषां मनांस्योतानि । अग्निर्वै देवानां मनोता, तस्मिन् हि तेषां मनांस्योतान्यग्निः सर्वा मनोता, अग्नौ मनोताः संगछन्ते ॥ ऐ. ब्रा. २।१०

" देवोंके तीन मनोता हैं । वाणी देवोंकी मनोता है क्योंकि उसमें देवोका मन संबंधित होता है । गौ देवोंकी मनोता है क्योंकि उसमें उनके मन संबंधित होते है । अग्नि देवोंकी मनोता है क्योकि उसमें सब देवोंके मन संबंधित होते है । अग्नि ही सब मनोता है क्योंकि अग्निमे ही सब मनोता संगत होते हैं । " अग्नि सूर्य आदि देवोंका संबंध जैसा परमात्मासे है, उसी प्रकार वाणी नेत्र कर्ण आदि इंद्रियोंका संबंध शरीरमें जीवात्माके साथ है । दोनोका तात्पर्य यही है कि, देवोका आत्माग्नि से नित्य संबंध है । यही आत्माग्नि अत्यंत बलवान् है और सब शत्रुओंको दूर करनेकी अनिवार्य शक्ति अपने अंदर धारण करता है । सब बलवानों से यह अधिक बलवान् है, और इसके समान किसी अन्यका बल नहीं है । अपने आत्माका यह सामर्थ्य है, यह विश्वास हरएक वैदिकधर्मी मनुष्यके अंदर स्थिर होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक प्राणीके अंदर यह शक्ति विद्यमान है—

(१८) मनुष्यमें अग्नि ।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ॥ यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥ ऋ. ४।७।१

" यह (प्रथमः) पहिला (होता) हवनकर्ता यज्ञमें अत्यंत पूज्य धाताओं द्वारा यहां रखा है । जिसको (अप्नवानो भृगवः) कर्म कुशल भृगु (विशे विशे विम्वं) प्रत्येक मनुष्यकेलिये विशेष प्रभावसंपन्न और (वनेषु चित्रं) वंदनीय पदार्थोंमें विलक्षण देखकर (विरुरुचुः) विशेष तेजस्वी करते रहे । " अर्थात् यह अग्नि प्रत्येक मनुष्यमे है और विशेष प्रभावसे युक्त है । यद्यपि प्रत्येक मनुष्य छोटासा है, तथापि उसकी आकृतिके अनुसार यह आत्मा तुच्छ नहीं है । छोटेसे छोटे प्राणीमेंभी यह विशेष प्रभावयुक्त है, और सबसे पहिला पूजनीय है । मनुष्यके जीवनमें इस आत्मशक्तिका विकास करनेकाही मुख्य कर्तव्य है । प्रत्येक मनुष्यमें जो आत्माग्नि है उसका उत्तम और स्पष्ट वर्णन इस मंत्रमे हुआ है । मर्त्य मनुष्योंमें जो अमर तत्व है वह यही है, यह बात निम्न मंत्रमें देखिये—

(१९) मर्त्योंमें अमृत अग्नि ।

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु । अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्य स्तन्वा वर्धमानः ॥ ऋ. ६।९।४

" (अयं प्रथमः होता) यह पहिला हवनकर्ता है, (इमं पश्यत) इसको देखिये, (मर्त्येषु इदं अमृतं ज्योतिः) मर्त्योंमें यह अमर ज्योति है, (सः अयं ध्रुवः जज्ञे) यह स्थिर प्रकट हुआ है, (तन्वा सह वर्धमानः अमर्त्यः) शरीरके साथ बढनेवाला अमर (आनिषत्तः) प्रकट हुआ है । " इसमें स्पष्ट शब्दोंसे कहा है कि यह (मर्त्येषु

अमृतं ज्योतिः=He is light immortal in the mortal men) मर्त्योंमें अमर तेज है। मरण धर्मवाले देहोंमें यह एक न मरनेवाला तेज है, इसका वर्णन गीतामें देखिये—

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ॥ तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥ ३० ॥

भ. गी. २

"कहा है, कि जो शरीरका स्वामी (आत्मा) नित्य अविनाशी और अचिंत्य है, उसे प्राप्त होनेवाले ये शरीर नाशवान् है। अत एव हे भारत! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥ यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीरका वध हो जाय तो भी मारा नहीं जाता ॥ २० ॥ जिस प्रकार कोई मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोड-कर नये ग्रहण करता है, उसी प्रकार देही अर्थात् शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नये शरीर धारण करता है ॥ २२ ॥ सबके शरीरमें यह शरीरका स्वामी सर्वदा अवध्य अर्थात कभी भी वध न किया जानेवाला है ॥ ३० ॥

यह गीताका कथन पूर्वोक्त मंत्रके कथनकाही विस्तार है। "मर्त्योंमें यह अमर ज्योति है।" इस बातकी सचाई हर एक मनुष्यके अनुभवमें भी है। अनेक शास्त्र यही बात कह रहे है। वेद कहता है कि, (इमं पश्यत) इसको देखिये। इस आत्माकी ज्योतिका साक्षात्कार करना मनुष्यका कर्तव्य है। मनुष्य अपने आपको शरीर रूप समझकर मरनेवाला न समझें, परंतु आत्मरूपसे अपने आपको अमर समझे! वेदका यह उपदेश विशेष रीतिसे देखने योग्य है। वेद कहता है कि, यह "ध्रुव" है। इसीका वर्णन वेदमें अन्यत्र "स्थाणु, स्कंभ, स्थूण" आदि नामोंसे किया है। इस मंत्रमें "अमर्त्यः तन्वा वर्धमानः।" अर्थात् "यह अमर शरीरके साथ बढता है," ऐसा कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि "यह अमर होता हुआ भी मर्त्य शरीरके साथ बढता है।" यह बताता है कि, यह आत्मा ही है। अजर अमर और अजन्मा आत्मा जीर्ण होनेवाले, मरनेवाले और जन्मको प्राप्त होनेवाले शरीरके साथ बढता है, अथवा ऐसा दिखाई देता है कि, यह शरीरके साथ बढ रहा है। वास्तविक तत्वज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो न यह शरीर के साथ जन्मता है, न जीर्ण होता है और न मरता है। परंतु सामान्य दृष्टिसे ऐसा भासमान हो रहा है। इसपर सायन भाष्य देखिये—

(२०) जाठराग्नि।

मर्त्येषु मरणस्वभावेषु शरीरेषु अमृतं मरणरहितं इदं वैश्वानराख्यं ज्योतिः जाठररूपेण वर्तते। अपि

च सोऽयमग्निः ध्रुवो निश्चल आ समंतान्निषण्णः सर्वव्यापी अतएवामर्त्यो मरणरहितोऽपि तन्वा शरीरेण संबंधाज्जज्ञे ॥ ऋ. सायनभाष्य ६।९।४

" मरनेवाले शरीरोंमें मरणधर्मरहित वैश्वानर नामक तेज जठराग्नि रूपसे रहता है। यह ध्रुव सर्वव्यापक अमर होता हुआ भी शरीरके संबंधसे उत्पन्न होता है " अस्तु। यह मंत्र मर्त्योंमें जो अमर अग्निका स्वरूप है, उसका स्पष्टीकरण कर रहा है। यही वेदप्रतिपाद्य मुख्य अग्नि है। श्री. सायनाचार्य पूर्व मंत्रोक्त अग्निको जाठराग्नि कहते है, तथा निम्न मंत्रमें भी उनके मतसे जाठराग्निकाही वर्णन है—

मथीद्यदीं विष्टो मातरिश्वा होतारं विश्वाप्सुं विश्वदेव्यम् ॥ नि यं दधुर्मनुष्यासु विक्षु स्वर्ण चित्रं वपुषे विभावं ॥ ऋ. १।१४८।१

सायनभाष्य—देवाः मनुष्यासु मनोरपत्यभूतासु विक्षु प्रजासु प्राणिषु वपुषे स्वरूपाय शरीरधारणाय जाठराग्निरूपेण निदधुः स्थापितवंतः ॥

" (होतारं) हवनकर्ता (विश्व—अप्सुं) विश्वरूपी, नानारूप धारण करनेवाले (विश्व—देव्यं) सब देवोंसे युक्त (ई—एनं) इस आत्माग्निको (विष्टः मातरिश्वा) व्यापक प्राण (मथीत्) मंथनसे उत्पन्न करता है। (यं) जिसको देव (मनुष्यासु विक्षु) मानवी प्रजाओंमें (वपुषे) शारीरिक स्वरूपके लिये (निदधुः) धारण करते

हैं। (न) जिसप्रकार (चित्रं विभावं स्वः) विचित्र प्रभावशाली दीप घरमें रखते है।"

शरीर रूपी घरमें यह आत्माका दीप देवोंने जगाया है। देखिये इस दीपको और इसका प्रकाश फैलाइये। यद्यपि श्री सायनाचार्य-जीके मतसे ये दोनों मंत्र जाठराग्निका वर्णन कर रहे है, तथापि इस विषयमें मतभेद होना संभव है। ऋ. ६।९।४ यह मंत्र पहिले दिया ही है। इसका अर्थ श्री. स्वा. दयानंद सरस्वतिजीने आत्मा परमा-त्मापरक लगाया है। मंत्रका स्पष्टार्थ निःसंदेह आत्माकाही भाव बता रहा है। यहा श्री. सायनाचार्यजीका मत देनेका उद्देश्य इतनाही है कि, ये भी इसका अर्थ आग नहीं करते, परंतु "**मनुष्यकी पाचक शक्ति**" कर रहे हैं। पहिलेसे ही हमारा कथन रहा है कि, अग्निका मुख्य भाव मानवी शरीरमें दिखा देनेका वेदका मंतव्य है, और वह वेदमंत्रोंमें विविध प्रकारके वर्णनोंसे बताया गया है। मान लीजिये कि, उक्त मंत्रोंमें पाचक जाठराग्निका वर्णन है, परंतु विचार करनेपर उसके पीछे आत्माका अस्तित्व माननाही पडेगा, क्यों कि वह आत्माही इस शरीरमें सब कार्य कर रहा है, वही कानसे सुनता और आंखसे देखता है, उसी प्रकार वही पेटमें अन्नका पचन कर रहा है। वही वाणीके मूलमें है और शब्द बोल रहा है, देखिये—

(२१) वाणीके स्थानमें अग्नि।

जोहूत्रो अग्निः प्रथमः पितेवेळस्पदे मनुषा यत्समिद्धः। श्रियं वसानो अमृतो विचेता मर्मृजेन्यः श्रवस्यः स वाजी॥ ऋ. २।१०।१

"(जोहूत्रः) उपास्य अग्नि (प्रथमः पिता इव) पहिला पिता जैसा जो है वह (इळः पदे) वाणीके पदोंमें (मनुषा समिद्धः) मनुष्यने प्रदीप्त किया है। यह (श्रियं वसानः) शोभा देनेवाला अमर (वि-चेता) विशेष चेतन (मर्मृजेन्यः) शुद्धता करनेवाला (श्रवस्यः) प्रसिद्ध है और वही (वाजी) बलवान् है।"

वाणीके पदोंमें, वाचाके मूल स्थानमें यह अमर चेतन अग्नि है। यही सबसे बलवान प्रेरक है। विशेष चेतन, विशेष चित्तसे युक्त अथवा चित्स्वरूप यह अग्नि है। चित्स्वरूप होनेसे यही आत्मा है, यह बात सिद्ध होती है। आत्मा चित्स्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप है और वही वाणीके पदोंके मूलमें विराजमान होता है। क्यों कि यही **" आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर मनके द्वारा प्राणको संचारित करके नाना प्रकारके शब्द उत्पन्न करता है।"** (पाणिनी-शिक्षा) यह वर्णन यहां देखनेसे मंत्रका भाव स्पष्ट हो जाता है। और देखिये—

(२२) दिव्य जन्म कर्ता अग्नि।

दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः॥ होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने॥ ऋ. १।५८।६

" हे अग्ने! भृगु (दिव्याय जन्मने) दिव्य जन्मके लिये (चारुं रयिं न) उत्तम धनके समान (मानुषेषु आ दधुः) मनुष्योंमें धारण करते रहे है। ऐसा तू (मित्रं शेवं न) सेवनीय मित्रके समान,

(होतारं) दाता (अ–तिथिं) जिसकी आने जानेकी तिथि निश्चित नहीं है ऐसा (वरेण्यं) श्रेष्ठ है।"

दिव्य जन्मकी प्राप्तिकी इच्छासे श्रेष्ठ लोग मनुष्योंमें इस अग्निकी धारणा करते हैं। इसकी धारणा करनेसे वह संतुष्ट होता है और उनका जन्म दिव्य करता है। यह अग्नि वैसा धारण किया जाता है कि, जैसा अत्यंत श्रेष्ठ धन धारण करते है। मनुष्यमें सबसे श्रेष्ठ धन किंवा (रयि) श्रेष्ठ शोभा " आत्मा " ही है। यदि इस मानवी शरीरमें आत्मा न रहा, तो अन्य धन और अन्य शोभायें कुछ भी कार्य नहीं कर सकतीं। जिससे धनका धनपन रहा है और जिसकी शोभासे शोभा सुशोभित हो रही है, वही सच्चा धन और सच्ची शोभा है। यही धनका धन आत्माही है। सब जानते ही हैं कि, यह आत्मा " अ-तिथि " है, क्योंकि इसकी शरीरमें आनेकी और शरीर छोडकर चले जानेकी तिथि निश्चित नहीं है। यही सेवा करने योग्य सच्चा मित्र है, क्योंकि यही सबका मान्य कर रहा है। इसलिये इसकी शक्तिकी धारणा सबको करनी चाहिये। क्योकि इसकी शक्तिका चिंतन करनेसे ही अपनी शक्तिका विकास हो सकता है। कोई अन्यमार्ग नहीं। इसकी धारणा करनेसे शक्तिकी वृद्धि होती है, इसका कारण यह है कि, यह उपासकको विलक्षण शक्तियां देता है, देखिये—

(२३) शक्ति प्रदाता अग्नि।

क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितो होता निषत्तो

रयिषाळमर्त्यः ॥ रथो न विक्ष्वंजसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति ॥ ऋ. १।५८।३

(वसुभिः रुद्रेभिः पुरोहितः) वसुओं और रुद्रोंने जिसको अग्र-भाग में रखा है, इस प्रकारका यह (काणा), कर्ता, (होता) दाता, आह्वाता, (निषत्तः) व्याप्त, (रयि+षाट्) धन के साथ रहनेवाला, (अ-मर्त्यः) अमर देव (रथो न) रथ के समान, (विक्षु आयुषु) प्रजाजनोंमें (ऋंजसानः) आगे बढनेवाला प्रेरक (वार्याणि) विविध शक्तियां (आनुषक् वि ऋण्वति) प्राप्त कराता है।

इस मंत्रमें शक्तिप्रदान करनेका गुण स्पष्टतापूर्वक कहा है। जो शक्ति इससे मिलती है, वह साधारण शक्ति नहीं है, परंतु ऐसी विलक्षण शक्ति होती है कि, जो सब (वार्य) शत्रुओंका नि-वारण कर सकती है। जो शक्ति शरीरमें उत्पन्न होनेसे मनुष्य अपने सब प्रकारके शत्रुओंको दूर भगा देता है। सब अन्य शक्तियोंसे "आत्म-शक्ति" ही सबसे विशेष प्रभावशाली होती है। आत्मशक्ति के द्वारा अन्य शक्तियोंका उपयोग किया जाता है, तथा आत्माकी दुर्बलता होनेसे अन्य शक्तिया कुछभी कार्य नहीं कर सकतीं; इतनी इस शक्तिकी योग्यता है, और यही शक्ति आत्माग्निसे प्राप्त होती है।

(२४) पुरोहित अग्नि । गणराज ।

इस मंत्रमें " पुरोहित " शब्दके अर्थका निश्चय हुआ है। " पुरः+हित " शब्दका अर्थ " अग्रभागमें रखा हुआ, अग्रेसर, प्रमुख, मुखिया " है। इस अर्थका स्वीकार करनेसे प्रश्न उत्पन्न हे

सकता है कि, यह किनका अग्रेसर है, किन्होंने इसको अग्रभागमें अथवा मुख्य स्थानमें रखा है, किनका यह मुखिया है ? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर इस मंत्रमें दिया गया है=(वसुभिः रुद्रेभिः पुरोहितः) वसु तथा रुद्र देवोंने इसको अपना अग्रेसर अथवा मुखिया बनाया है। वसु रुद्र और आदित्य ये " **गणदेव** " हैं। गणदेव वे होते हैं कि, जो अपने संघमें रहते है और संघसे ही कार्य करते हैं। संघ शक्तिका महत्व इन " **गणदेवों** " के द्वारा बताया जाता है। गणदेवों के प्रत्येक संघका एक मुखिया होता ही है, और उस मुखिया को " **पुरो–हित** " कहते हैं, क्योंकि गणोंके सब घटकों द्वारा वह स्वीकृत होता है। यह एक प्रकारकी " **गण–राज–संस्था** " है जो वैदिक मंत्रोंमें वर्णन की है। इसका व्यापक स्वरूप बतानेके लिये यहां स्थान नहीं है, तथापि इतना कहना आवश्यक है कि, इसके मुखिया को जैसा " पुरो–हित " कहते है, उसी प्रकार " **गण–राज, गणपति, गणेश** " आदि नाम होते है। और इसकी अनुमतिके विना कोई गण कोई कार्य कर नहीं सकता। प्रत्येक कार्यमें इसको बुलाया जाता है, इसका सत्कार किया जाता है और इसकी अनुमतिसे ही सब कार्य किये जाते है। यद्यपि गणके प्रत्येक व्यक्ति को अपना मुखिया चुननेका अधिकार होता है, तथापि मुखिया चुननेके पश्चात् मुखियाका अधिकार सर्वतोपरि होता है।

इस मंत्रमें वसुगुण और रुद्रगण का नाम आया है। अध्यात्म-दृष्टिसे " रुद्र " नाम प्राणोंका है। पंचप्राण और पंच उपप्राण मिलकर दस प्राण मानवी शरीरमें कार्य करते हैं। यही प्राणगण किंवा रुद्र-

गण हैं । स्थूल शक्तियोंके अर्थात् पृथिवी आप तेज आदिकोंके गणोंका नाम "वसुगण" है । इन दोनों गणोंका अग्रेसर मुखिया आत्मा ही है । इन दोनों गणोंके सब देवताओंने इस आत्माको ही अपना मुखिया बनाया है । सब कार्य करनेके समय ये सब देवगण इसको अपने अग्रभागमें रखते हैं, और इसीसे शक्ति लेकर कार्य करते हैं । यह पुरोहित का भाव पाठकोंको यहां ठीक ध्यानमें धरना चाहिये।

यह अमर आत्मदेव सब अन्य देवताओंका अग्रेसर है और सब प्रजाओंमें बैठा हुआ उन सबको विलक्षण शक्ति देता है । इस दृष्टिसे इस मंत्रका विचार करनेपर आत्माग्निकी ठीक ठीक कल्पना आ सकती है । इसीका और वर्णन देखिये—

(२५) हस्तपाद हीन गुह्य अग्नि ।

स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ॥ आपादशीर्षा गुहमानो अन्तायो-युवाने वृषभस्य नीळे ॥ ११ ॥ प्र शर्ध आर्त प्रथमं विपन्यं ऋतस्य योना वृषभस्य नीळे ॥ स्पार्हो युवा वपुष्यो विभावा सप्त प्रियासोऽजनयंत वृष्णे ॥ १२ ॥ ऋ ४।१

"(स प्रथमः) वह पहिला (पस्त्यासु जायत) प्रजाओंमें हुआ है । तथा वह (अस्य महः रजसः बुध्ने योनौ) इस महान अंतरिक्षके मूल स्थानमें होता है । यह (आपाद–शीर्षा) पांव सिर आदि अव-यवोंसे रहित (अंतःगुहमानः) अंदर गुप्त है । यह (वृषभस्य नीडे) वीर्य युक्त पुरुषके स्थानमें (आ योयुवानः) संघटनाका कार्य करता है,

संमेलन का कार्य करता है।" इस मंत्रका तात्पर्य यह है कि, सब देवोंमें अत्यंत प्राचीन तथा सबसे पहिला यह देव है, इस महान् अवकाशमें इसका स्थान है। न इसको हाथ हैं और न पाव सिर आदि अवयव है, अर्थात् यह अशरीरी निराकार है, और सबके अंदर गुप्त अथवा व्याप्त है। शरीररहित होनेके कारण ही यह निरवयव होनेसे सबमें व्याप्त और अव्यक्त। है बलवान् मनुष्यके अंदर यह पंमिश्रणका कार्य करता है, अर्थात् निर्बलके अंदर यह भेदन का कार्य करता है। "**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**" (मुंड. ३।२।४) यह आत्मा बलहीनको प्राप्त नहा होता, यह तत्वज्ञानका सिद्धांत ही है। निश्चयपूर्वक दृढ अनुष्ठानसे ही इसकी प्राप्ति होती है। और जिस समय इसकी प्राप्ति होती है, उस समय उस मनुष्यकी शक्ति, शोभा और योग्यता बढ जाती है।

" (ऋतस्य योनौ) ऋतके मूल कारणमें (वृषभस्य नीळे) बलवान् के स्थानमें (प्रथमं विपन्यं) पहिले ज्ञानीको (शर्धः प्र आर्त) तेज और बल प्राप्त होता है। यह (स्पार्हः) स्पृहणीय, प्राप्त करने की इच्छा करने योग्य, युवा (वपुष्यः) देहधारी, (विभावा) प्रभाव युक्त है। (वृष्णे) इस बलवानके लिये (सप्त प्रियासः) सात प्रिय देव (अजनयंत) उत्पन्न करते है।"

इस मंत्रके अन्य शब्द पूर्व लेखके अनुसार सुगमतासे ध्यानमें आसकते है, इसलिये उनका विशेष वर्णन करनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। पूर्व मंत्रमें "**अ-पाद-शीर्ष**" हस्तपाद आदि अवयव हीन है ऐसा वर्णन है, परंतु यहां इस मंत्रमें "**वपुष्यः**" शरीरधारी है, ऐसा

है, यद्यपि इसमें परस्पर विरोध दिखाई देता है, तथापि विचारकी दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि यह आत्माग्नि यद्यपि वस्तुतः शरीर रहित है तथापि इस शरीरको धारण करनेवाला यही है। इस लिये दोनों शब्द इस आत्मामें सुसंगत होते है। इस आत्मासेही इस शरीरमें तेज, वल वीर्य आदि होता है, इसीलिये इसके विषयमें सब ही प्राणी हार्दिक प्रेमभाव रखते है। सबको ही यह प्रिय है। इस मंत्र में " सात प्रिय देव इसको प्रकट करते है " ऐसा जो कहा है, इसका स्पष्टीकरण इस लेखके अंतिम भागमें होगा। वहांही इस को पाठक देख सकते है। (सप्त) सात संख्याका महत्व क्या है, इसका पता वहांही पाठकोंको लग सकता है। अस्तु। इस प्रकार इस गुह्य अग्निका वर्णन वेदमंत्रोंमें है। इससे स्पष्ट होता है कि, यह आत्माग्नि हृदयाकाशमें सब प्रजाओंके अंदर गुह्य रीतिसे विराजमान है। तात्पर्य " अग्नि " शब्दसे केवल " आग " का ही भाव नहीं लिया जाता, परंतु प्रकरणानुसार अन्य अर्थ भी इस शब्दसे व्यक्त होते हैं। इसका अब और एक विलक्षण रूपक देखिये—

(२६) वृद्ध नागरिक।

अधा हि विक्ष्वीड्योऽसि प्रियो नो अतिथिः ॥
रण्वः पुरीव जूर्यः सूनुर्न त्रययाय्यः ॥ ऋ. ६।२।७

(अधा हि) और तू (नः प्रियः अतिथिः) हमारा प्रिय अतिथि तथा (विक्षु ईड्यः असि) प्रजाओंमें पूजनीय है। जैसा (पुरि जूर्यः रण्वः इव) नगरीमें वृद्ध पुरुष रमणीय होता है, अथवा (सूनुः न त्रययाय्यः) जैसा पुत्र संरक्षणीय होता है।

नगरीमें जो सबसे वृद्ध बुजुर्ग होता है, वह सबको वंदनीय होता है, इसी प्रकार यह इस शरीररूपी नवद्वार पुरिमें बहुत समय से रहनेवाला सबसे प्राचीन पूर्वज होनेसे सबको पूज्य है। तथा घरमें जैसा बालक सबको संरक्षणीय होता है, वैसा यहां इस शरीर-रूपी घरमें यह बालकवत् ही है, और इसलिये इसका संगोपन करना और इसकी सब शक्तियोका विकास करना सबको उचित है। दोनों उपमाओमें एक विशेष बात बताई है कि, यह स्वयं अशक्त है, और इस लिये दूसरोंकी सहायताकी अपेक्षा करता है। यद्यपि वृद्ध मनुष्य पूज्य होता है, तथापि तरुणोंके साथ उसकी शक्तिका मुकाबला नहीं हो सकता। तथा यद्यपि बालक सुकुमार होनेसे सबको प्यारा होता है, तथापि तरुणोंकी अपेक्षा वह अशक्त ही होता है। यद्यपि वृद्ध और बालक अशक्त होते है, तथापि वृद्धमें अनुभवकी शक्ति होनेसे वह सबको वंदनीय होता है, और बालक सुकुमार होनेसे तथा सब शक्तियोंको बीजवत् अपने अंदर धारण करता है, इसलिये सबको प्यारा होता है। आत्मा इस शरीरके जन्मसे पहिले विद्यमान था इसलिये शरीरसे वृद्ध है और उसकी संपूर्ण शक्ति-योंका विकास होनेवाला है इस कारण वह बालकवत् ही है। तथा यह आत्मा जो कार्य करता है, यद्यपि अपनी शक्तिसे करता है, तथापि इंद्रियोंद्वारा कराता है, इसलिये इंद्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा रहनेके कारण वह वृद्धवत् अथवा बालकवत् दूसरेकी सहायता चाहता है। ये सब रूपकके भाव यहा देखने योग्य है। अग्निके रूपसे यह आत्माका भाव यहां बताया है। अग्निकी चिनगारी छोटी

होनेके कारण जैसी उसकी रक्षा करनी आवश्यक होती है, परंतु अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होनेके पश्चात् वही चिनगारी बडे दावानल का रुद्ररूप धारण करती है, और बडे धुरंधर शत्रुओंको भी डराती है, उसी प्रकार यह आत्मा प्रारंभमें अपने अंदर सब शक्तियां बीज-रूप धारण करता है, उस समय बडा अशक्तसा प्रतीत होता है, परंत अनुकूल माता पिता, गुरु, मित्र आदिकी परिस्थिति प्राप्त होनेके पश्चात् जिस समय यह आत्माका "महात्मा" बनता है, तब यहीं सबको पूज्य होता है, और इसके तेजसे इसके शत्रुभी डरने लग जाते हैं। इस प्रकार अग्निके साथ इस आत्माकी समानता देखने योग्य है। इसका ग्रहण कैसे किया जाता है, इस विषयमें निम्न-मंत्र देखिये—

(२७) प्रजामें देवताका अनुभव।

अग्ने कदा ते आनुषग्भुवद्देवस्य चेतनम् ॥
अधा हि त्वा जगृभिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम् ॥

ऋ. ४।७।२

"हे अग्ने ! जब तुझ देवताकी चेतनता हुई, तब ही तुझे सब मर्त्योंने (विक्षु ईड्यं) सब प्रजाओंमें पूजनीयको (जगृभिरे) धारण किया।" अर्थात् जब तेरे चैतन्यका पता लगा, तब मनुष्योंने तेरा ग्रहण किया। आत्माका ग्रहण उस समय होता है कि, जब आत्माकी चेतनशक्ति का पता लग जाता है। विचारशील मनुष्य पहिले शरीरमें अनुभव करता है कि इसमें एक चेतन चालक शक्ति है, तत्पश्चात् उसकी खोज की जाती है, और उसका ग्रहण करनेके लिये अनु-

ष्ठान पूर्वक साधन होता है। इसके पश्चात् उसका ग्रहण हो जाता है। यह उसकी अंतिम उन्नतिकी सीमा है। इसका वर्णन देखिये—

(२८) न दबनेवाला।

स मानुषीषु दूळभो विक्षु प्रावीरमर्त्यः॥ दूतो विश्वेषां भुवत्॥ ऋ. ४।९।२

" वह (मानुषीषु विक्षु) मानवी प्रजाओंमें (दूळभः दुर्दभः) न दबनेवाला (अमर्त्यः) अमर (प्रावीः) प्रकट हुआ है, वह सबका दूत होगया है। " इसके पूर्व एक मंत्रमें कहा है कि, यह वृद्धके समान अथवा बालकके समान है। यह प्रारंभिक अवस्था थी, इस प्रारंभिक अवस्थामें इसका बचाव करना आवश्यक होता है। परंतु जिस समय यह अपनी शक्तियोंके उत्कर्षके साथ प्रकट हो जाता है, उस समय यही (दूळभः=दुर्दभः) न दबनेवाला हो जाता है। कितनी भी शक्ति शत्रुकी हो, उसके दबावसे यह दबा या नहीं जायगा, इतनी प्रचंड शक्ति यह प्राप्त करता है। इस मंत्रमें एक विशेष बात कही है, वह यह है कि, यह आत्मा (**मानुषीषु विक्षु दूळभः**) मानवी प्रजाओंमें ही यह न दबनेवाला बन जाता है, यह अवस्था उसको मानव योनीमें ही प्राप्त होती है, पशुपक्षीयोंकी योनीमें इस प्रकार उन्नति यह प्राप्त नहीं कर सकता। इस विधानसे इस अग्निका आत्मा ही स्वरूप है, यह बात निश्चित होती है, क्योंकि आत्माके विकासकी कर्मभूमि या कुरुक्षेत्र यह मानव योनी ही है।

अन्यत्र ऐसा पुरुषार्थ नहीं हो सकता। यह सबका " दूत " है जिस समय श्रद्धाभक्तिसे इसको कहा जाता है कि, यह कार्य ऐसा करो, तो यह वैसा बना देता है। '**मानस चिकित्सा**' से जो आरोग्य प्राप्त होता है, वह इसी आत्माकी निजशक्तिसे होता है। " हे आत्मदेव ! तुम मुझे आरोग्य दो, इस अवयवमें नीरोगता करो " ऐसा विश्वासपूर्वक कहनेसे उसकी शक्ति वहां इष्ट कार्य कर देती है। इसको कहनेसे यह वैसाही कर देता है, इसलिये इसको आज्ञाधारक " दूत " कहते हैं। अग्निमंत्रोंमें दूत के विषयमें बहुत वर्णन है। प्रसंग विशेषसे भिन्न भिन्न प्रकारका भाव उस वर्णनमें है, तथापि उनमें एक भाव यह है, जो यहां बताया है। अन्य भाव स्थान स्थान में बताये जांयगे। इस विषयमे निम्नमंत्र देखिये—

अग्निर्देवेषु राजत्यग्निर्मर्तेष्वाविशन् ॥ अग्निर्नो हव्यवाहनोऽग्निं धीभिः सपर्यत ॥ ऋ. ५।२५।४

(१) अग्नि देवोंमें प्रकाशता है, (२) अग्नि मर्त्योंमें आवेश करता है, (३) अग्नि हमारा अन्नवाहक है, (४) इसलिये अग्नि की बुद्धियों और कर्मोसे पूजा कीजिये।

इस मंत्रमे चार विधान है। अग्नि देवोमें प्रकाशता है यह पहिला कथन है। देवशब्द इंद्रियवाचक सुप्रसिद्ध है, इंद्रियोंमें आत्माकी शक्ति प्रकाशित होती है। सब मनुष्योंको इसका अनुभव अपने ही शरीरमें हो सकता है। आंख नाक कानोंमें आत्माकी ही शक्ति वहांका कार्य कर रही है। यही आत्माका आवेश मर्त्यों में है। शरीर स्वयं चेतन नहीं है, आत्माकी शक्तिसे ही इसकी चेतनता

है। आत्मशक्तिका आवेश जब इस शरीरमें होता है तभी यह मूक शरीर वक्तृत्व करने लग जाता है। जड शरीर दौडने लग जाता है, मुर्दा शरीर सचेतन प्रतीत होता है। यही इस महाभूत का संचार है, इसीको आवेश कहते हैं। यही आत्माग्नि इस शरीर में अन्न का भोग लेता है और सब इंद्रियोंको पहुंचाता है। प्रत्येक इंद्रियमें एक एक देव बैठा है, वहा उसके पास योग्य अन्नरसको पहुंचानेका कार्य यह करता है, यही उसका " दूत " भाव है। जिस प्रकार दूत, उसको दिये, हुए पदार्थ बांट देता है, ठीक इस प्रकार यह दूत शरीर स्थानीय देवताओंको अन्नरसका विभाग यथायोग्य रीतिसे बांटता रहता है। इस दूत कर्मसे ही अन्य देव अर्थात् इंद्रियगण पुष्ट होते हैं, और अपना अपना कार्य यथायोग्य रीतिसे करते रहते है। यह आत्मा इतना कार्य कर रहा है, इस लिये बुद्धियों द्वारा इसकी उपासना करनी अत्यावश्यक है। यह इस मंत्रका तात्पर्य है । यह जैसा अचेतन देहको सचेतन करता है वैसेहीं मूकसे वक्तृत्व करता है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

(२९) मूकमें वाचाल।

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि ॥ स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥ ऋ. ७।४।४

" (अय प्रचेताः अग्निः) यह ज्ञानी अग्नि (अ–कविषु कविः) शब्द न करनेवालों म शब्दका प्रवर्तक, (मर्तेषु अमृतः) मरनेवालों में अमर (निधायि) रहा है। हे (सहस्–वः) बलवन्! तेरे विषयमें सदा

हम (सु—मनसः) मनका उत्तम भाव धारण करेंगे, इसलिये वह तू हमारी (मा जुहुरः) हिंसा न कर।"

इस मंत्रके प्रथमार्धमें आत्माग्निके गुण वर्णन किये है। (१) यह आत्माग्नि (अ—कविषु) जो शब्दका उच्चार नहीं कर सकते, जो स्वयं ज्ञानी नहीं है, उनमें (कविः) शब्दका प्रवर्तक और ज्ञानी है। (२) तथा (मर्तेषु) मरनेवालोंमें यह अमर तत्त्व है। इस विधानकी सत्यता हमने इससे पूर्व देखी है। मुख जड है, स्वयं मुखसे शब्द नहीं निकल सकता, परंतु यह जड मुखसे बडा ओजस्वी वक्तृत्व करा सकता है। सब हस्तपादादि अवयव और इंद्रिय मरनेवाले और क्षीण होनेवाले हैं, उन सबमें यह अविनाशी और अमर है। जो ज्ञानी लोग इसके विषयमें मनमें (सु—मनसः) उत्तम भावना धारण करेंगे, उनकी उन्नति होगी, क्यों कि यह आत्माग्नि अपनी शक्ति उनमें विकासित करता है और उनको तेजस्वी करता है। इसी लिये आत्मनिष्ठ मनुष्योंका तेज सर्वत्र फैलता है। यह आत्माग्नि सच्चा मित्र है और इसी लिये उपासकोंकी सहायता करता है:—

(३०) पुराना मित्र।

द्युभिर्हितं मित्रमिव प्रयोगं प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारं॥ बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनयंत विक्षु होतारं न्यासादयन्त ॥ ऋ. १०।७।५

" (द्युभि हितं) तेजस्वियोंके साथ रहनेवाला, (प्रत्नं मित्रं इव

प्रयोगं) पुराने मित्रके समान योग्य सहायता देनेवाला, (ऋतु+इज्जं) ऋतुके अनुकूल कर्म करनेवाला, (अ-ध्वरस्य जारं) सत्कर्मकी समाप्ति करनेवाला, अग्नि है । इसको (आयवः) मनुष्य अपने पुरुषार्थ सूचक बाहुओंसे प्रकट करते रहे और उस (होतारं) दाताको (विक्षु) प्रजाओंमें रखते रहे । ”

यह आत्माग्नि (प्रत्नं मित्रं) पुराने मित्रके समान योग्य समयमें योग्य सहायता करनेवाला है । जो इस आत्माग्निकी यह मित्रता जानते हैं, वेही उसका सच्चा मूल्य अनुभव करते है, और वेही अपने आपको धन्य धन्य बना सकते हैं । बाहुबलों अर्थात् पुरुषार्थोंसेही उसकी प्रसिद्धि होती है, यह महात्मा ऐसे शुभ कर्म करनेसे जगत्में वंदनीय बना है । योग्य सर्वजन हितकारी पुरुषार्थोंसेही प्रशंसा होती है । तात्पर्य निष्ठा पूर्वक ज्ञानसे आत्माग्निका अनुभव होता है, और सर्वजन हितकारी पुरुषार्थोंसे उसकी प्रसिद्धि होती है । इस प्रकार पुराने मित्रकी उदारता है, इसलिये सबको इसके विषयमें आदर रखना उचित है । अब और इस का अमरत्व देखियेः—

(३१) विनाशियोंमें अविनाशी ।

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु ॥

ऋ. १०।७९।१

“ (मर्त्यासु विक्षु) मर्त्य प्रजाओंमें (अस्य महतः अमर्त्यस्य) इस महान अमरका महत्व देखा है । ” यह अनुभव की बात इस मंत्रमें कही है । सब देह मरनेपर भी यह अमर रहता है । मरण

धर्मी शरीरोंमें यह अमर और अविनाशी आत्मशक्ति रहती है। इसीका नाम आत्माग्नि है। तथा—

अग्निं सूनुं सहसो जातवेदसं दानाय वार्याणाम्॥
द्विता यो भूदमृतो मर्त्येष्वा होता मंद्रतमो विशि॥
ऋ. ८।७१।११

(सहसः सूनुं) सहनशक्तिको वढाने वाले, (जात—वेदसं) जिससे ज्ञान और धन की उत्पत्ति हुई है, ऐसे अग्निकी (वार्याणा दानाय) शत्रुनिवारक शक्तियोंके दानके लिये प्रशंसा करता हूं। जो (मर्त्येषु अमृतः) मरणधर्मवालों में अमर, (विशि मंद्रतमः) प्रजामें अत्यंत तृप्ति करनेवाला (होता) दाता (द्वि—ता भूत्) दो प्रकारसे होता है।

(१) यह आत्माग्नि सहनशक्ति अर्थात् शत्रुको दूर भगानेकी शक्ति वढाता है, आत्मिक वलसेही संपूर्ण शत्रु दूर भाग जाते हैं, (२) यह चित् स्वरूप होनेसे इससे ही ज्ञानका प्रवाह चलता है, (३) शत्रुता निवारक धन और शक्ति का प्रदान यही करता है, "(४) सव मर्त्योंमें यही अमर है," और (५) सवको अत्यंत हर्ष देनेवाला भी यही है, (६) इसकी शक्ति स्थूल और सूक्ष्ममें संचारित हो रही है। यह इसका वर्णन स्पष्टतासे इसका आत्मिक स्वरूप व्यक्त कर रहा है। तथा और देखिये—

स नो विभावा चक्षणिर्न वस्तोरग्निर्वंदारु वेद्यश्च नो धात्॥ विश्वायुर्यो अमृतो मर्त्येषूषर्भुद् भूदतिथिर्जातवेदाः॥
ऋ. ६।४।२

" (वस्तोः चक्षणिः न) दिनमें सूर्य जैसा (विभावा) प्रकाशक (वेद्यः) और जानने योग्य, वह अग्नि (वंदारु चनः) वंदनीय अन्न (नः धात्) हम सबको देवे। (विश्व+आयुः अमृतः) पूर्ण आयु-देनेवाला यह अमर (मर्त्येषु उषर्भुत्) मर्त्योंमें ब्राह्ममुहूर्तके समय जागनेवाला (जातवेदाः) ज्ञानका प्रकाशक (अ–तिथिः) जिसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है, ऐसा है।"

सूर्य जैसा सबको प्रकाश देता है, उसी प्रकार यह आत्माग्नि सबको ज्ञानका प्रकाश देता है, इसीलिये यह (वेद्यः) जानने योग्य है। इसकी खोज करनी चाहिये ऐसा जो कहते है, उसका यही कारण है। (विश्व–आयुः) सब आयुका धारण यही करता है, जबतक यह अमर देव मर्त्य शरीरमें रहता है, तब तकही इसकी आयु होती है, जब यह चला जाता है, तब कहते है कि, इसकी आयु पूरी हो गई। इसका तात्पर्य ही यह है कि, सबकी आयु इसके साथही संबंधित होती है। इस प्रकारका यह आत्माग्नि मर्त्योंमें अमर रूपसे रहता है। तथा और देखिये—

स मर्त्येष्वमृत प्रचेता राया द्युम्नेन श्रवसा विभाति॥ ऋ. ६।५।५

" हे अमृत! वह मर्त्योंमें (प्र–चेता) विशेष ज्ञानसंपन्न (राया) धन और (द्युम्नेन श्रवसा) तेजस्वी यशसे (विभाति) विशेष चमकता है।" अमर आत्माग्निके कारण ही यह यश और यह धनयुक्त तेज उसको प्राप्त होता है, इसलिये यह धन,

शोभा, तेज और यश उसीका है, और उसीसे सबको प्राप्त होता है। इसलिये इसीकी उपासना प्रातः काल करनी चाहिये, देखिये—

प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेताऽतिथिः ॥
विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यति ॥

ऋ. ५।१८।१

(अ–तिथिः) जिसकी आनेजानेकी तिथि निश्चित नहीं है, वह (विशः) सबका निवासक (पुरु+प्रियः) सबको प्रिय अग्नि (प्रातः स्तवेत) प्रातः कालमें प्रशंसित होवे। वह मर्त्योंमें अमर (विश्वानि हव्या) सब अन्नोंको (रण्यति) चाहता है।

यह पूर्वोक्त आत्माग्नि सबको प्रिय है, इससे अधिक प्रिय वस्तु दुनियाभरमें और कोईभी नहीं है। इसलिये इसको " पुरु–प्रिय " कहते है, इस विषयमें उपनिषदोंमें निम्न प्रकार वर्णन है—

आत्मानमेव प्रियमुपासीत ॥ बृ. उ. १।४।८
न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति ॥........
न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवंत्या
त्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवंति ॥........
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्या-
त्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा
अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः ॥

बृ. उ. २।४।५

" आत्माको ही प्रिय मान कर उपासना करनी चाहिये ॥ अरे वित्तके लिये वित्त प्रिय नहीं होता है, परंतु आत्माके लिये ही वित्त प्रिय होता है,........देवोंके लिये देवतायें प्रिय नहीं होतीं हैं, परंतु आत्माके लिये ही देव प्रिय होते ह,........सबके लिये ही सब प्रिय नहीं होता है, परंतु आत्माके लिये ही सब कुछ प्रिय होता है। इस लिये आत्माकी खोज करनी चाहिये और उसीका श्रवण मनन निदिध्यासन करना चाहिये।" पूर्वोक्त वेदमंत्रमें जो "**पुरु+प्रिय**" शब्द है; उसीका यह स्पष्टीकरण है। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें इसीका चिंतन करना चाहिये—

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिंतयेदात्मनो हितं ॥

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर आत्माका हित करनेका उपाय सोचना चाहिये। यह आर्योंकी सनातन रीति है। अस्तु पूर्वोक्त मंत्रमें कहा है कि, यह आत्मा सब अन्न, (विश्वानि हव्या) सब प्रकारका भक्ष्य चाहता है। इस की सत्यता देखनेके लिये हरएक योनिके प्राणियोंका निरीक्षण कीजिये। हरएक योनिके प्राणीका भक्ष्य अलग अलग है। प्रायः सब योनियोंके प्राणी सब कुछ पदार्थ खाते है, इसलिये कहा है कि—

स यद्यदेवाऽसृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वं सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमदितेरदितित्वं वेद ॥ बृ. उ. १।२।५

सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति ॥

बृ. उ. २।२।४.

व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ॥

प्रश्न उ. २।११

"उसने जो उत्पन्न किया, वह सब खानेके लिये धर दिया, क्यों कि यह सबका भक्षक है। इसी लिये इसको अदिति कहते है, यह सबका भक्षक है और सब इसका अन्न है। हे प्राण! तू व्रात्य, एक, ऋषि, सत्पति और सब विश्वका भक्षक है।" यह उपनिषदोंका वर्णन पूर्वोक्त मंत्रके साथ देखने योग्य है। इन विधानोंकी तुलना करनेसे मंत्रका आशय अधिक स्पष्ट हो जाता है, और वैदिक कल्पना विशेष स्पष्ट होनेमें सहायता हो जाती है। अस्तु। तात्पर्य यह कि, यह आत्माग्नि ही (अत्ता) भक्षक किंवा सर्वभक्षक है। यह न केवल मर्त्योंका अपि तु देवोंका भी हित करता है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

(३२) अनेक देवोंका प्रेरक एक देव।

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा होता यजिष्ठ इत्कृ-णोति देवान् ॥ ऋ. १।७७।१

"यह मर्त्योंमें अमर, (ऋता-वान्) सत्य नियमोंका पालक, दाता, (यजिष्ठः) पूज्य है, और यह देवोंका हित करता है।" यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि, यह मर्त्य शरीरमें रहता हुआ देवोंका हित कैसा करता है? इस प्रश्नका उत्तर इतनाही है कि, इस शरीर-में ही स्थानस्थानमें अनेक देवतायें अंश रूपसे आकर बैठीं हैं, उनका

हित यही करता है । आखमें सूर्य नारायण है, नाकमें अश्विनी देव हैं, छातीमें मरुत् हैं, इसी प्रकार अन्यान्य स्थानोंमें अन्यान्य देव है । इन सब देवगणोंका हित यही आत्माग्नि कर रहा है । देवोंका अपने अपने स्थानमें निवास कराना, उनको अन्नरस पहुंचाना, उनसे योग्य कार्य लेना, अपने साथ उनको लाना और लेजाना, उनको हृष्टपुष्ट करना, इत्यादि सब कार्य इसी आत्माग्निके हैं । अग्निसूक्तोंमें स्थानस्थानमें इस विषयके वर्णन अनेक हैं, उनका विशेष विचार आगे सूक्त विवरणमें हो जायगा । यहां केवल सूचनाके लिये लिखा है । तथापि कुछ थोडे वाक्य देखिये—

(१) स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ य. ३४।५१
(२) स देवेषु वनते वार्याणि ॥ ऋ. ९।४।२
(३) देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ॥ ऋ. २।१२।१
(४) देवो देवान् परिभूर्ऋतेन ॥ ऋ. १०।१२।२
(५) देवो देवान् यजत्वग्निरर्हन् ॥ ऋ. २।३।१
(६) देवो देवान् यजसि जातवेदः ॥ ऋ. १०।११०।१
(७) देवो देवान् स्वेन रसेन पृंचन् ॥ ऋ. ९।९७।१२

(१) वह देवोंमें दीर्घ आयु करता हैं, (२) वह देवोंमें शक्तिया देता है, (३) वह देव अपने कर्मसे देवोको सुभूषित करता है, (४) सत्यसे वह देव देवोंको व्यापता है, (५) अग्नि देव योग्य होनेसे देवोंका यजन करता है, (६) जातवेद अग्नि देव देवोंका यज्ञ करता है, (७) देव अपने रससे देवोंको पुष्ट करता है ।

इसप्रकारके सैंकडों विधान है कि, जो आत्मा और इंद्रियोंका ही संबंध वर्णन कर रहे हैं। आत्मा अग्नि है और इंद्रियस्थानमें सब देवतागण हैं। इनका ही वर्णन यहां अग्निसूक्तों में मुख्यतया है, और इसी प्रकार अन्य देवता के सूक्तोंमें भी है। परंतु यहां अग्निविषयक ही वर्णन का विचार करना है, इसलिये अन्य देवताके मंत्र देखनेकी आवश्यकता नहीं है। अब निम्न मंत्रमें इसका संबंध अन्य देवोंके साथ देखिये—

त्वां ह्यग्ने सदमित् समन्यवो देवासो देवमरतिं न्येरिरे इति क्रत्वा न्येरिरे ॥ अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसं विश्वमादेवं जनत प्रचेतसम् ॥ ऋ. ४।१।१

" हे अग्ने ! (स–मन्यवः) अत्यंत उत्साही देव (अरतिं त्वां देवं) गतियुक्त तुझ देवको (सदं इत्) सदा (न्येरिरे) प्रेरित करते है। हे (यजत) पूज्य ! (मर्त्येषु अमर्त्यं) मर्त्योंमें अमर (आदेवं देवं) देवताको (आजनत) प्रकट करते हैं, तथा (प्र–चेतसं) चित्स्वरूप देवको प्रकट करते है।"

यह आत्माग्नि मरण धर्मवालोंमें अमर है, और इसको अन्य देव प्रकट कर अर्थात् रहे है। अन्य देवताओंके कारण इसका अनुभव हो रहा है। बाह्य जगत में देखिये कि, सूर्यादि देवताओंके अस्तित्व से ही परमात्माका अस्तित्व है, यह कल्पना उत्पन्न होती है; इसी प्रकार अध्यात्मपक्षमें अपने देहमें आंख नाक कानोंके व्यापार देख-

कर इनके अंदर एक आत्मतत्व है, ऐसा अनुभव होता है। दोनों दृष्टियोंसे देवतायें आत्माको प्रकट करतीं है, यह कथन सत्य है। इस प्रकार मर्त्योंमें अमर आत्माग्निका वर्णन वेदमें अग्निके मिषसे होता है, इसविषयमें और एक ही मंत्र देखिये—

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरध्यै॥

ऋ. ४।२।१

“(यः अमृतः) जो अमर (ऋतावा) सत्य धर्म से युक्त, (अरतिः) गतिमान् अग्निदेव है, वह (मर्त्येषु) मर्त्योंमें (निधायि) रखा है। यह (होता) दाता (यजिष्ठः) पूज्य (मह्ना) अपने महत्वसे (शुचध्यै) प्रकाश करनेके लिये रखा है। तथा (हव्यैः) अन्नोंसे (मनुषः) मनुष्यको (ईरध्यै) प्रेरणा अर्थात् उन्नति करने के लिये रखा है।”

इस मंत्रमें यह आत्माग्नि किस प्रयोजन के लिये यहां इस शरीर-में रखा है उसका वर्णन है। श्री. सायनाचार्य इस मंत्रपर निम्न प्रकार भाष्य करते है।

मर्त्येषु मनुष्यसंबंधिषु वागादींद्रियेषु निहितः॥
अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् इति श्रुतेः।

सा. भाष्य. ऋ. ४।२।१

“ मर्त्यों में अर्थात् मनुष्यसंबंधी वाग् आदि इंद्रियोंमें रखा है। क्योंकि अग्नि वाक् बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ ऐसा श्रुतिवचन है (तै-

अ. ३।९।१७) " । यह आत्माग्नि मनुष्योंमें रहकर (शुचध्यै) उनमें तेज उत्पन्न करता है, तथा (ईरध्यै) उन्नतिकी ओर प्रेरण करता है । ये दो कार्य इसके इस शरीरमें है । मर्त्य प्राणियोंमें अम आत्माग्निका यह कार्य हरएक को देखने योग्य है । अपने अंदर इस प्रकार की दिव्य और अमर आत्मशक्ति है, और वह हमको उन्नति की ओर प्रेरणा कर रही है, यह विश्वास उत्पन्न होना चाहिये वैदिक धर्मका यही उद्देश्य है । अपने नित्य जपके गायत्री मंत्रमें (**धियो यो नः प्रचोदयात्** । ऋ. ३।६२।१०) 'जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है " उसका हम ध्यान करते हैं; ऐसा जो कहा है, उसका भी यहां विचार करना चाहिये, क्योंकि दोनों में उन्नतिकी प्रेरणा समानही है। अस्तु, इस प्रकार प्रेरक आत्माग्नि मर्त्योंमें है, और वह अमर है, यह बात उक्त मंत्रोंद्वारा सिद्ध हुई । अब अन्य बातका विचार करेंगे । वेदमें देवों के साथ अग्नि आता है, अथवा जाता है, इस आशयके वर्णन अनेक स्थानोंमें हैं । इनमेंसे कुछ मंत्र इससे पूर्व दिये गये है, और कुछ आगे दिये जांयगे । यहां उक्त आशयके ही परंतु वही आशय अन्य शब्दों द्वारा जिनमें बतायाहै, ऐसे मंत्र पहिले दिये जाते हैं, उनका विचार होनेके पश्चात् देवोंका संबंध अग्निके साथ देखेंगे—

(३३) अनेक अग्नियोंके साथ एक अग्नि ।

जिस समय अग्निका स्वरूप निश्चय करना होता है, उस समय " अनेक अग्नियोंके साथ एक अग्नि है " यह वेदका वर्णन सबसे

पहिले देखना चाहिये । क्यों कि ऐसे मंत्रोंमें "अग्नि" शब्द विशेष भावसे प्रयुक्त होता है । देखिये—

विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः ॥
चनो धाः सहसो यहो ॥ ऋ. १।२६।१०

"हे (सहसः यहो) बल के संरक्षक ! हे अग्ने ! तूं (विश्वेभिः अग्निभिः) सब अग्नियोंके साथ इस यज्ञमें आ और इस वचन को सुनो । तथा हमको (चनः) अन्न दो ।" इस मंत्रका कथन स्पष्ट है कि, यह अग्नि एक यज्ञमें अपने साथ सब अग्नियोंको लाता है । अब पता लगाना चाहिये कि, यह एक अग्नि कौन है, और उसके साथ आनेवाले अनेक अग्नि क है । इसका पता लगानेके लिये निम्न मंत्र देखिये—

अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्महया गिरः
यज्ञेषु ये उ चायवः ॥ ऋ. ३।२४।४

"हे अग्ने ! (विश्वेभिः अग्निभिः देवेभिः) सब अग्निदेवोंके साथ तू (गिरः महय) वाणीको सुपूजित करो, तथा जो (चायवः यज्ञमें पूजक होते हैं, उनको भी उन्नत कर ।"

इस मंत्रमें (अग्निभिः देवेभिः) अग्नि और देव ये शब्द एकही पदार्थके द्योतक हैं । तात्पर्य, किसी स्थानपर "देव" शब्द प्रयुक्त हुआ अथवा किसी स्थानपर "अग्नि" शब्दका उपयोग हुआ, तोभी उन दोनोंसे एकही वक्तव्य सिद्ध होता है । अर्थात् "अग्ने ! तूं देवोंके साथ आ" तथा "हे अग्ने ! तूं अग्नियोंके साथ आ" इसका भाव एकही है । "देव"

शब्दका भाव अध्यात्ममें "इंद्रिय" है, यह बात पहिले निश्चित की गई है, वही भाव "अग्नि" शब्दमें है, यह यहां निश्चित हो रहा है। इस विषयमें भगवद्गीताका प्रमाण देखिये--

शब्दादीन्विषयानन्य इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥

म. गी. ४।२६

"शब्दादि विषयोंका इंद्रियाग्नियोंमें हवन करते हैं।" इस श्लोकमें इंद्रियरूप अग्नि अनेक हैं, यह स्पष्ट है। प्रत्येक इंद्रियमें एक एक अग्निकुंड है, और वहां उस उस विषयका हवन हो रहा है। आंखके स्थानीय अग्निमें रूपका हवन होता है, कर्णस्थानीय अग्निमें शब्दका हवन, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियाग्नियोंमें अन्यान्य विषयों का हवन हो रहा है। और जिसका हवन होता है, उसको वह अग्नि महान आत्माग्नि तक पहुंचाता है। यह केवल आलंकारिक वर्णन नहीं है, परतु इसका अनुभव भी पाठक कर सकते है। इंद्रिय स्थानीय संपूर्ण अग्नि यदि नियत रीतिसे योग्य आहुतियां डालकर सुपूजित किये गये, तो वे इस शरीरके अधिष्ठाता मुख्य आत्माको इष्ट उन्नतितक पहुंचाते है, परंतु यदि कोई एक इंद्रियाग्नि हद्दसे अधिक वढ गया, तो सबको जलाकर सबका नाश करता है, फिर सब इंद्रियाग्नि भडकने लगे, तो क्या अवस्था होगी, इसका विचार कल्पनासेही पाठक कर सकते है!!! इस अवस्थाको देखनेसे प्रत्येक इंद्रियमें अग्नि है यह बात सिद्ध होती है, अर्थात् यहां जितनीं इंद्रियां हैं, उतनेही अग्नि हैं। इसलिये "हे अग्ने! तूं सब अग्नि

देवोंके साथ सुपूजित हो " इस वाक्यका तात्पर्य " हे आत्मन् ! तूं सब इंद्रिय शक्तियोंके साथ पूज्य बनो " यही है। जहां " आत्माग्नि " जाता है, वहां सब इतर " इंद्रियाग्नि " जाते हैं, यह सब स्वाभाविक ही है । शरीरस्थानीय इंद्रियाग्नियोंके विषयमें यह विचार हुआ। इनके अतिरिक्त भी और बहुतसे अग्नि यहां रहते हैं, उनका विचार निम्न उपनिषद् वाक्यमें देखिये—

शरीरमिति कस्मात् । अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते, ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति । तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति । दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म विन्दति। त्रीणि स्थानानि भवंति, मुखे आहवनीय, उदरे गार्हपत्यो, हृदि दक्षिणाग्निः। आत्मा यजमानो, मनो ब्रह्मा, लोभादयः पशवो, धृतिर्दीक्षा संतोषश्च, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, हवींषि कर्मेंद्रियाणि, शिरः कपालं, केशा दर्भाः, मुखमंतर्वेदिः ॥ गर्भोपनिषद्. ९.

" इसको शरीर क्यों कहते है ! क्यों कि यहां अग्नि आश्रय लेते हैं, ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि, और कोष्ठाग्नि । उसमें कोष्ठाग्नि अन्नका पचन करता है। दर्शनाग्नि रूपोंको देखता है। ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्मोंको प्राप्त करता है। अग्नियोंके तीन स्थान होते है, मुखमें आहवनीयाग्नि, उदरमें गार्हपत्याग्नि, और हृदयमें दक्षिणाग्नि है।

इस यज्ञमें आत्मा यजमान है, मन ब्रह्मा, लोभादि पशु, धृति दीक्षा, ज्ञानेंद्रिया यज्ञपात्र हैं, कर्मेंद्रियां हविर्द्रव्य हैं, सिर कपाल है, केश दर्भ ह और मुख अंतर्वेदि है ।" इस प्रकार यह यज्ञ चल रहा है। यही शतसांवत्सरिक-महासत्र है, यहां यज्ञपुरुष प्रत्यक्ष आत्मा है, जो इस यज्ञको अपने अंदर देखेगा, उसकोही एक अग्निकी तथा उसके साथवाले अनेक अग्नियोंकी कल्पना ठीक प्रकार हो सकती है, और उसीको संदेहरहित ज्ञान होना संभव है। इस प्रकार ये अनेक अग्नि यहां इस देहरूपी यज्ञशालामें प्रत्यक्ष हैं, और इसीका नकशा बाहिरकी यज्ञशालामें किया जाता है। बाह्य यज्ञ जो हवनकुंडोंमें किया जाता है, वह इसलिये ही है कि, उस नकशेको देख कर इस असली यज्ञका पता लगे। परंतु शोककी बात इतनी ही है कि, यह "नकशा" ही अधिक प्रिय हो गया है, और वास्तविक यज्ञकी ओर कोई देखता ही नहीं है !! वेदका अर्थ जाननेकी इच्छा करनेवालोंको तो यह आध्यात्मिक यज्ञ अवश्यमेव ध्यानपूर्वक समझना चाहिये। अन्यथा वेदमंत्रका अर्थ समझनाहीं अशक्य है "अनेक अग्नियोंके साथ एक अग्नि आता है" यह वेदमंत्रका कथन पूर्वोक्त रूपक का सूचक है, इस विषयमें अब संदेह नहीं हो सकता। अब निम्न मंत्र देखिये—

तमु द्युमः पुर्वणीक होतरग्ने अग्निभिर्मनुष इधानः ॥ स्तोमं यमस्मै ममतेव शूषं घृतं न शुचि मतयः पवंते ॥ ऋ. ६।१०।२

हे (द्युमः) तेजस्वी (पुरु+अनीक) बहुसेनायुक्त, बहुबलयुक्त अग्ने ! (अग्निभिः) अग्नियोंके साथ प्रज्वलित होनेवाला तू (मनुषः) मनुष्यके उस स्तुतिका श्रवण कर। (यं स्तोमं) जिस स्तोत्रको, (शुचि शूषं घृतं न) शुद्ध सुखकर घीके समान, (मतयः) बुद्धियां पुनीत करती हैं।

इस मंत्रमें एक अग्नि अनेक अग्नियोंके साथ प्रदीप्त हो रहा है यही वर्णन है। इसका भाव पूर्वोक्त स्पष्टीकरणके साथ विशेष खुल सकता है। एक आत्माग्नि अनेक इंद्रियाग्नियोंके साथ यहां इस देहमें प्रदीप्त हो रहा है। यह मुख्य आत्माग्नि (पुरु-अनीक) अनेक बलोंसे युक्त है, अनेक शक्तियां इसमें हैं, तथा अनेक सेनासमूहभी इसके साथ रहते हैं। प्रत्येक इंद्रियस्थानमें सैनिकोंका एक एक गण है और सब गणोंका यही एक अध्यक्ष "**गणपति**" है। गणेशको सैनिकोंके गणोंका स्वामी कहतेही हैं। शरीरके प्रत्येक इंद्रियमें सूक्ष्म कीटाणुओंका एक एक गण रहता है, वहां प्रत्येक गणका एक अधिष्ठाता रहता है। और संपूर्ण गणोंका यह मुख्याधिष्ठाता होता है। इस लिये इसको (पुर्वणीक=पुरु+अनीक) बहु सेनासे युक्त कहते हैं। प्रत्येक गणका अधिष्ठाता एक अग्नि, और सब गणोंके अधिष्ठातारूप अनेक अग्नियोंका मुख्याधिष्ठाता यह महानग्नि है। यही गणराज होता है। इस गणराज संस्थाको अपने शरीरमेंही देखना चाहिये। यहां इसका अनुभव होनेके पश्चात् राष्ट्रमें "**गणराज संस्था**" किस प्रकार होती है, इसका ज्ञान होना संभव है। इस लिये पाठक इस संस्थाको अपने अंदर देखें और अनुभव करें। तथा

अपने समाजमें इसी गणराज संस्थाको जीवित करके अपना राज्ययंत्र उत्तम सजीव करनेका यत्न करें। अस्तु। अब इन अग्नियोंके विषयमें एक वर्णन देखिये—

(३४) अग्नियोंमें अग्नि।

प्रो त्ये अग्नयो ऽग्निषु विश्वं पुष्यंति वार्यं ॥
ते हिन्विरे त इन्विरे त इषण्यंत्यानुषगिषं
स्तोतृभ्य आभर ॥ ऋ. ५।६।६

(अग्नयः) ये अग्नि (अग्निषु) अग्नियोंमें (विश्वं वार्यं) सब शक्तिका (प्रो पुष्यंति) पोषण करते है। (ते हिन्विरे) वे संतुष्टता करते है, (ते इन्विरे) वे व्यापते हैं, (ते इषण्यंति) वे अन्नकी इच्छा करते है। इसलिये स्तोताओंका क्रमशः पोषण करो।

इस मंत्रमें चार विधान है, जो अग्निका वास्तविक स्वरूप बता रहे हैं। (१) (विश्वं वार्यं पुष्यंति) सब निवारक शक्तिको बढाते है। शरीरमें एक निवारक शक्ति है, जो रोगादिकोंका प्रतिबंध करती है, अपमृत्युका निवारण करती है, उसका पोषण यह अग्नि कर रहा है। (२) (हिन्विरे) संतोष करते हैं। संतोष, खुशी, आनंद दे रहे है। पूर्वोक्त अग्नि अपने अंदर विविध प्रकारके हवन स्वीकार करके देवताओंकी संतुष्टता कर रहे हैं। यह भाव अपने अंदर पूर्वोक्त स्पष्टीकरणसे विशद हो सकता है। (३) (इन्विरे) व्यापते है । अपनी इंद्रियशक्तियोंसे व्यापक होते है। देखिये अपना ही दर्शनाग्नि जो आंखमें है, वह जगत्में सूर्यचन्द्रादिकों तक

फैलता है, इसी प्रकार कर्णस्थानीय श्रवणाग्नि दश दिशाओंमें फैल रहा है। इसी प्रकार अपनी शक्तियां फैल रहीं हैं। (४) (इष-ण्यंति) अन्नकी इच्छा करते हैं। ये इंद्रियाग्नि अपने अपने भोग्य अन्नको प्रतिदिन चाहते हैं। अपना अपना अन्न मिल जानेसेही वे शक्तियोंको पुष्ट करते हैं, संतोष देते हैं, तथा व्यापते हैं। और अन्न न मिलनेपर वे शक्तिहीन होते हैं, संतोष नहीं देते और अपनी शक्तिको फैला भी नहीं सकते।

सूक्ष्म दृष्टिसे यदि पाठक इस मंत्रका विचार करेंगे, तो उनके ध्यानमें स्पष्ट रीतिसे आसकता है कि, इस मंत्रमें कहे हुए आग्नि "इंद्रियाग्नि" ही मुख्यतया है। क्यों कि इनमें ही मंत्रोक्त बातोंका अनुभव हो सकता है। अन्यत्र लक्षणासे भी अनुभव आना अशक्य है। इसलिये ये अग्नि मुख्यतः अपने शरीरकी शक्तियाँ ही हैं और उनका संबंध व्यक्त करनेके लियेही बाहिरके यज्ञमें विविध अग्नियोंकी योजना की गई है। यही बात निम्न मंत्रमें और स्पष्ट हुई है, देखिये–

(३५) देवोंद्वारा प्रदीप्त अग्नि !

मा नो अग्ने दुर्भृतये सचैषु देवद्धेष्वग्निषु प्रवोचः॥ मा ते अस्मान् दुर्मतयो भृमाच्चिद्देवस्य सूनो सहसो नशन्त॥ ऋ. ७।१।२२

हे अग्ने ! (नः सचा) हमारा सहायक तू है, इसलिये इन (देवे-द्धेषु अग्निषु) देवोंद्वारा प्रदीप्त किये हुए अग्नियोंमें (दुर्भृतये) कृशता-

के लिये (मा प्रवोचः) न कहो । तथा हे (सहसः सूनो) बलपुत्र ! (ते देवस्य दुर्मतयः) तुझ देवकी दुर्बुद्धियां (भ्रमात् चित्) भ्रमसे भी हमारा नाश न करें ।

इसमें मुख्य अग्निकी प्रार्थना की गई है कि, वह मुख्याग्नि गौण अग्नियोंमें कृशताके शब्द न बोले और भ्रमसेभी दुष्ट भाव न धारण करे । मुख्याग्नि आत्माग्नि है, और गौणाग्नि इंद्रियाग्नि ही हैं । आत्माग्नि की प्रेरणा इंद्रियाग्नियोंमें होती है, और यहांका सब कार्य चलता है । यह आत्माग्नि गुप्त शब्दोंद्वारा इंद्रियाग्नियोंमें प्रेरणा करता है, इसकी यह प्रेरणा (दुर्भृतये) कृशताके लिये न हो, परंतु (सुभृति) पुष्टिके लिये होवे । जिस भावकी धारणा होती है, वैसीही यहांकी अवस्था बन जाती है । " मैं प्रतिदिन उन्नत, पुष्ट और नीरोग हो रहा हूं " ऐसी भावना धरनेसे उन्नति, पुष्टि और नीरोगता सिद्ध होती है । तथा इसके विपरीत भाव धारण करनेसे विपरीत परिणाम होता है । इसलिये भ्रममें भी दुष्टभावना मनमें धारण नहीं करनी चाहिये, क्यों कि, यदि दुष्ट भावना का धारण हुआ तो निःसंदेह नाश होगा । इतनी प्रबल शक्ति भावनामें है । यह मंत्र मानसशास्त्रके एक बडे भारी सिद्धांतका प्रकाश कर रहा है । आशा है कि पाठक इसका विचार करके अपना लाभ करनेका यत्न करेंगे । नित्य शुद्ध भावनाकी स्थिरता करनेसे नित्य लाभ होगा, यह अटल सिद्धात है ।

इस मंत्रमें (देवेद्धः अग्निः) देवों द्वारा प्रदीप्त किये अग्नियोंका उल्लेख है । यहां कौनसे अग्नि, देवोके प्रयत्नसे प्रदीप्त हुए है ! इसका पता लगाना आवश्यक है । उपनिषदोंमें कहा है

कि, (१) सूर्य भगवान् नेत्रस्थानमे आकर रहे हैं, और दर्शनाग्नि को प्रदीप्त कर रहे है, (२) अश्विनी देव नासिका स्थानमें प्राणाग्निको प्रदीप्त कर रहे है, (३) अग्नि वाक् स्थानमें बैठ कर शब्दाग्निको जला रहा है, (४) शिस्न स्थानमें जल देवताएं बैठीं हैं, और वीर्याग्निका प्रदीपन कर रहीं हैं, (५) नाभिस्थानमें मृत्यु-देव आकर अपानाग्निको उद्दीपित कर रहा है, इसी प्रकार अन्यान्य देवतायें अन्यान्य इंद्रियस्थानोंमें बैठ कर अपने अपने हवनकुंडमें अपने अपने आग्नि प्रदीप्त कर रहीं हैं। ये सब अग्नि (देव+इद्ध) देवोंद्वारा प्रदीप्त किये हैं । पाठक इतना अनुभव अपने देहमें कर सकते हैं । परंतु सायनाचार्य इस शब्दका अर्थ विचित्रही करते हैं देखिये—

देवेद्धेषु ऋत्विभिः समिद्धेषु अग्निषु ॥

सा. ऋ. भा. ७।१।२२

" देवेद्ध " शब्दका अर्थ ऋत्विजों द्वारा प्रदीप्त अग्नि है। यहा देव शब्दका अर्थ ऋत्विज किया है। श्री. स्वामी दयानंद सरस्वती जी अपने भाष्यमें—

देवेद्धेषु देवैःइद्धेषु प्रज्वालितेषु अग्निषु ॥

ऋ. द. भा. ७।१।२२

" वायु आदिसे प्रज्वलित किये हुए अग्नियोंमें " ऐसा करते है। अस्तु। इस प्रकार " देवेद्ध अग्नि " ये शब्द दैवी शक्तियोंका ही वर्णन कर रहे हैं, न कि हवन कुंडस्थ अग्नियोंका यहा संबंध है। दैवी शक्तियोंद्वारा इद्रियाग्नियोंका प्रज्वलन सर्वत्र उपनिषदादि ग्रंथोंमें

वर्णन किया है। इस लिये वही यहा लेना उचित है । और वह लेनेसे ही मंत्रका गर्भिताशय स्पष्ट हो जाता है । यही भाव निम्न मंत्रमें देखिये——

दशस्या नः पुर्वणीक होतर्देवेभिरग्ने अग्निभि रिधानः ॥ रायः सूनो सहसो वावसाना अति स्रसेम वृजनं नांहः ॥ ऋ. ६।११।६

हे (पुरु+अनीक) बहुबलयुक्त (होतः) दाता अग्ने ! (देवेभिः अग्निभिः) अग्निदेवोंके साथ (इधानः) प्रदीप्त होता हुआ (नः) हमको (रायः) धन (दशस्य) दो। हे (सहसः सूनो) बल पुत्र ! (वावसानाः) वसनेकी इच्छा करनेवाले हम सब (वृजनं न) शत्रुके समान (अंहः) पापका भी (अतिस्रसेम) अतिक्रमण करके परे चले जायंगे।

इसमें भी अनेक अग्निदेवोंके साथ प्रदीप्त होनेवाले एक मुख्य अग्निका वर्णन है, और इसमें प्रायः वेही शब्द हैं, कि जो पहिले आचुके है, इस लिये इनका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी यही वर्णन है—

स त्वं नो अर्वन्निदाया विश्वेभिरग्ने अग्निभि रिधानः ॥ वेषि रायो वि यासि दुच्छुना मदेम शतहिमा सुवीराः ॥ ऋ. ६।१२।६

हे (अर्वन्) गतिशील अग्ने ! तू (विश्वेभिः अग्निभिः) सब अग्नियोंके साथ प्रदीप्त होता हुआ (निदायाः) निंदासे (पाहि)

हमारा रक्षण कर, (रायः वेषि) धन दो, (दुच्छुना वियासि) दुःखकारकोंको विविध प्रकारसे भगाओ, जिससे हम (शत-हिमाः) सौ वर्ष (सु-वीराः) उत्तम वीरोंसे युक्त होकर (मदेम) आनंदित हों।

सब इंद्रियाग्नियोंसे युक्त होता हुआ आत्माग्नि ऐसी प्रेरणा करे कि हम सब निंदासे बचें, धन प्राप्त करें, विपरीत भावनाओंको दूर भगा दें। ऐसा करनेसे हम सौ वर्ष आनंदसे व्यतीत करेंगे। इस का तात्पर्य यह है कि, यदि हम घृणित कर्म करेंगे, धन नहीं प्राप्त करेंगे, विपरीत भावनारूपी शत्रुओंको दूर न भगायेंगे, तो घृणित कर्मोंके कारण हमारा अंतःकरण मलिन होगा, धनहीनताके कारण संसारयात्रा कष्टप्रद होगी, विरुद्ध भावनाओंके कारण क्लेश होंगे और इन सबका यही परिणाम होगा कि, हमारी आयु क्षीण हो जायगी। इस लिये मंत्रोक्त उपदेशके अनुसार आचरण करके दीर्घायु बनना हरएक वैदिक धर्मीको उचित है। अस्तु। अब उक्त विषयकाही और एक मंत्र देखिये—

(३६) दूत अग्नि।

अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वं ॥ यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः ॥ ऋ. ७।३।१

(अग्निभि.) अग्नियोंके साथ रहने वाले (यजिष्ठं देवं) पूज्य अग्निदेव को (अध्वरे) यज्ञमें दूत कीजिये। जो अग्नि (मर्त्येषु)

मर्त्योंमें (नि—ध्रुविः) ध्रुव (ऋतावा) सत्यवान् (तपुर्मूर्धा) तपस्वी (घृत+अन्नः) घी युक्त अन्न खानेवाला और (पावकः) शुद्धिकर्ता है।

इंद्रियोंके साथ रहनेवाला आत्माग्नि पूज्य, अमर, स्थिर, दृढ, सत्य, तपस्वी, और शुद्ध है। इसीको यज्ञ में दूत करना चाहिये। दूत वह होता है कि जो नियत कार्यको करता है, जिस प्रकार कहा जाय वैसा ही करलेता है। क्या यह आत्माग्नि हमारा दूत है! आध्यात्मिक दृष्टिसे विचार करनेपर पता लग जायगा कि विशेष अवस्थामें यह दूत भी बनता ही है। योगसाधनसे जिनका मन शांत और स्थिर हुआ है, वे योगी जो भाव मनमें लाते हैं, वैसाही बन जाता है। यह कौन करता है? विचार करनेपर मानना पडता है कि, यह आत्माही करता है। मनमें जो इच्छा होगी, वह बन जायगा। अर्थात् मनकी इच्छाके अनुसार यह दूत बनकर कार्य करता है। इस अर्थमें यह दूत है। पौराणिक मतसे श्रीकृष्ण भगवान् परमात्माका पूर्णावतार होता हुआ भी साधक जीव अर्जुन के रथपर सारथी अर्थात् दूत ही बना था, उसके घोडे साफ किया करता था, महायज्ञमें भोजनके बाद उच्छिष्ट निकालनेका काम करता था और पाडवोंकी इच्छाके अनुसार सब कार्य करता था। इस कथामें परमात्मा जीवात्माका दौत्य करता है। वास्तविक यह अलंकार है। और वही अलंकार अग्निके मिषसे यहां इस मंत्रमें बताया है। योगबलसे साधक जीवको इतना अधिकार प्राप्त हो सकता है कि, वह जिसकी इच्छा करेगा, वह उसको परमात्मा देगा। इच्छा करनेवाला योगी

और सिद्ध करनेवाला आत्मा यहां होता है। इसीलिये इसको दूत कहा है। इस दूत कर्म के विषयमें वेदमें सेंकडों प्रकारके आलंकारिक वर्णन हैं, उनका स्पष्टीकरण स्थानस्थानमें किया जायगा। उनमेंसे एक भाव यहां बताया है। इसी विषयमें दूसरा अलंकार देखिये—

(३७) होता अग्नि।

अग्न आयाह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ॥
आ त्वामनक्तु हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे

ऋ. ८।६०।१

"हे अग्ने! तूं अग्नियोंके साथ आ। तुझे हम हवनकर्ता ऋत्विज् स्वीकार करते है। (हविष्मती बर्हिः) अन्न युक्त वेदी तुझ पूज्यको प्राप्त करके सुपूजित करे।"

पूर्वमंत्रमें इस आत्माग्निको दूत स्वीकार किया था, अब इस मंत्रमें ऋत्विज् हवन कर्ता स्वीकार करते हैं। "होता" शब्दका अर्थ दाता, आदाता, आव्हान कर्ता और हवन कर्ता है। यह आत्माग्नि इंद्रियाग्नियो, प्राणाग्नियों तथा जाठरादि अग्नियोंमें विविध प्रकारके हवन कर रहा है। इस प्रत्यक्ष बातका ही यह वर्णन है, इसलिये अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। अब और एक अलंकार देखिये—

(३८) अग्निरूप होना।

स्वग्नयो वो अग्निभिः स्याम सूनो सहस ऊर्जांपते ॥ सुवीरस्त्वमस्मयुः ॥ ऋ. ८।१९।७

हे (सहसः सूनो) बल पुत्र ! हे (ऊर्जां पते) अन्नपते ! आपके अग्नियोंके साथ (अग्नयः) हम अग्नि (स्याम) बनेंगे । तूं (सुवीरः) उत्तमवीर और (अस्म–युः) हम सबको चाहनेवाला हो।

इस मंत्रमें कहा है कि हम सब अग्निरूप बनेंगे । आत्मा मुख्याग्नि है और हम उसके साथी अन्य आग्नि बनेगें। अर्थात् उनके समान उनके गुण धर्मोसे युक्त और उनके मित्र बनकर रहेंगे । तथा वह भी हमको चाहने वाला होवे, अर्थात् हमारेसे कोई ऐसा आचरण न हो, कि जिससे वह आत्मशक्ति हमसे विमुख हो । हम आत्मशक्तिसे विमुख न हों, और वह आत्मा हमसे विमुख न हो ।

माहं ब्रह्म निराकुर्यां
मा मा ब्रह्म निराकरोत् ॥ (उप. शांति. केन. उ.)

" मै ब्रह्मका निराकरण न करूं, ब्रह्म मेरा निराकरण न करे ।" यह केनोपनिषद् की शांतिका वाक्य यही भाव बता रहा है, तथा–

(वयं) अग्नयः स्याम ।
(अग्निः) अस्मयुः (भवतु) ॥ ऋ. ८।१९।७

" हम अग्नि बनें, अग्नि हमारा भला चाहनेवाला बने । " यह भाव शांति मंत्रके समानही है। यहां शंका हो सकती है कि, एक अग्निका दूसरे अनेक अग्नियोंके साथ कौनसा संबंध है । इसका विचार करने के लिये (१) एक परमात्माका अनेक जीवात्माओंके साथ संबंध, (२) एक महात्माका दूसरे अल्प आत्माओंके साथ संबंध, (३) एक जीवका अन्य जीवोंके साथ संबंध, (४) एक आत्मासे

अन्य इंद्रियोंसे संबंध, (९) एक अवयव का अन्य अवयवों के साथ संबंध देखना चाहिये। विचार करनेपर पता लगेगा कि, यह एक विलक्षण संबंध है, और उस संबंधके कारण ही यह विश्व चल रहा है। एकके द्वारा दूसरेके जीवनमें परिणाम होता है, इसका भाव निम्न मत्रमें है—

(३९) एक अग्निसे दूसरे अग्निका जलना।

अग्निना ऽग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा ॥
हव्यवाड् जुह्वास्यः ॥ ऋ. १।१२।६

" (अग्निना अग्निः) एक अग्निसे दूसरा अग्नि (सं इध्यते) प्रदीप्त किया जाता है। यह अग्नि कवि, गृह—पति, (युवा) जवान, (हव्य—वाह्) अन्न वाहक और (जुहु+आस्यः) चमस से घी मुखमें डालने वाला है। "

इस मंत्रमें कवि, गृहपति, युवा ये शब्द हैं, ये शब्द मानवी अग्निके ही वाचक है। जो गृहस्थी युवा कवि है, वह भी समाजमें अग्निवत् ही हैं। वह अन्नसे पुष्ट होता है और चमससे घी पीता है, इसलिये हृष्टपुष्ट रहता है। पहिला मनुष्य अग्नि था, यह बात मानवी अग्निके विषयमें इस लेखके प्रारंभमें ही कही है। उस बातकी स्पष्टता पुनः यह मंत्र कर रहा है। अध्यात्मदृष्टिसे जीवात्माका घर यह शरीर है, इस कारण आत्मा गृहपति है, इसकी गृहपत्नी बुद्धि है। यह युवा इसलिये है कि, यह न शरीरके साथ जन्मता और न मरता है, शरीरके बाल्य और वार्धक्य ये गुण इसको बाधित नहीं

करते, इसलिये यह सदा युवाही कहलाता है। यही बुद्धि, मन और प्राणद्वारा शब्दकी प्रेरणा करता है, इस कारण यह कवि है। यह अन्न भक्षक और घी पीनेवाला है, शरीरके साथ रहनेसे इसको खान पान करना पडता है, यद्यपि शरीर ही खानपान करता है, तथापि इसके होने तक शरीर खाता पीता है, इसलिये ही इसको (अत्ता) भक्षक कहते हैं। तात्पर्य व्यक्तिमें आत्मा और समाजमें गृहस्थी कवी अग्निरूप है।

एक अग्नि दूसरे अग्निको प्रदीप्त करता है, यह इस मंत्रका कथन है। इसकी सत्यता देखिये—राष्ट्रमें अध्यापक शिष्योंको ज्ञान देते हैं। विद्वान अध्यापक युवा–शिष्योंको ज्ञान देते है। इसमें ज्ञानाग्निका प्रज्वलन है। अध्यापक अपने ज्ञानाग्निसे शिष्यके अंदर ज्ञानाग्नि प्रदीप्त कर रहा है। सब अध्ययनका क्रम इसी प्रकार चलता है। एक कवि अपने काव्यसे दूसरोंमें काव्यस्फूर्ति उत्पन्न करता है। प्राचीन ज्ञानी अपने ग्रंथों और उपदेशों द्वारा नवीनोंमें स्फूर्ति दे रहे हैं। यही भाव निम्न मंत्रमें है—

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता ॥
सखा सख्या समिध्यसे ॥ ऋ.८।४३।१४

हे अग्ने! तूं (अग्निः अग्निना) अग्नि अग्निसे, (विप्रः विप्रेण) ज्ञानी ज्ञानीसे, (सन् सता) साधु साधुसे, (सखा सख्या) मित्र मित्रसे प्रदीप्त होता है। इस मंत्रके निम्न शब्द देखने योग्य हैं—

अग्निः	अग्निना (समिध्यते)	ऋ.	१।१२।६
हे अग्ने! त्वं	अग्निना (समिध्यसे)	ऋ.	८।४३।१४
विप्रः	विप्रेण (समिध्यते)	ऋ.	१।१२।६
सन्	सता	,,	,,
सखा	सख्या	,,	,,
(शिष्यः	अध्यापकेन)	,,	

पहिला कथन अग्नि विषयक होनेसे देवता विषयक है। दूसरा ज्ञानीके विषयमें है, तीसरा सज्जनोंके संबंध में है, और चौथा साधारण मित्रताके संबंधमें है। इसके साथ हम " शिष्य अध्यापकके द्वारा उत्तेजित होता है " यह वाक्य जोड सकते है। मित्रता करनेसे ही मैत्री बढती है, साधुके साथ रहनेसे साधुता प्राप्त होती है, विद्वान् की संगतिसे ज्ञान बढता है, तेजस्वीके साथ रहनेसे तेजस्विता बढती है, गुरुके साथ रहनेसे शिष्यको विद्या प्राप्त होती है, यही तात्पर्य है कि, अग्निके द्वारा दूसरे अग्निका प्रज्वलन होता है। अग्निसंकेतसे कितनी बातें लेनी होती हैं, इसका यहां स्पष्टीकरण हुआ है। यही वैदिक " **अग्निविद्या** " है। इस रीतिसे मंत्रोंका भाव अन्य वेद मंत्रोंके साथ देखनेसे वैदिक आशयका ठीक ठीक रीतिसे पता लग जाता है और मंत्रके भावार्थके विषयमें किसी प्रकारका संदेह नहीं रहता। अस्तु इस प्रकार यहां एक अग्नि अनेक अग्नियोंके साथ किस रूपमें रहता है, यह बात देखी है। आत्माग्नि इंद्रियाग्नियोंके साथ रहता है, परमात्माग्नि सूर्यादि तेजोंके साथ रहता है, ज्ञानी ज्ञानियोंके साथ प्रकाशता है, कवि कवियोंके साथ रहता है, तेजस्वी तेजस्वियोंके

साथ शोभता है, साधु साधुओंके साथ रहता है, विप्र विप्रोंके साथ रहता है, मित्र मित्रोंके साथ रहते हैं, गुरु शिष्योंके साथ प्रकाशते हैं, तात्पर्य एक अग्नि दूसरे अनेक अग्नियोंके साथ ही रहता है, वह कदापि अपने विरोधियोंके साथ नहीं रह सकता। समान धर्मियोंके साथ रहनेसे शोभा बढती है और विरोधियोंके साथ रहनेसे शक्ति क्षीण होती है। इत्यादि सहस्रों उपदेश यहां विचारी पाठकोंको प्राप्त हो सकते हैं। अस्तु। यहां इस विषयको समाप्त करके अब अनेक देवों द्वारा स्थापित एक अग्निका मनोरंजक विषय देखेंगे—

(४०) देवोंद्वारा स्थापित अग्नि।

इस समयतक देवोंके साथ रहनेवाला, अग्नियोंके साथ आने जानेवाला, देवोंको बुलानेवाला अग्नि किस भावका द्योतक है, यह देख लिया; अब देवोंद्वारा स्थापित अग्निकी कल्पना देखनी है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

अग्निं देवासो मानुषीषु विक्षु प्रियं धुः क्षेष्यन्तो न मित्रं ॥ स दीदयदुशतीरूर्म्या आ दक्षाय्यो यो दास्वते दम आ ॥ ऋ. २।४।३

(क्षेष्यन्तः देवासः) गतिमान देवोंमें (मानुषीषु विक्षु) मानवी प्रजाओंमें प्रिय (अग्निं) अग्निकी (मित्रं न) मित्रके समान (धुः) स्थापना की अथवा धारणा की है। वह (दक्षाय्यः) दक्ष अग्नि अपने दमनमें तथा (उशतीः ऊर्म्याः) स्पृहणीय रात्रियोंमें (दास्वते) दाताके लिये (आदीदयत्) प्रकाश देता है।

"देव" शब्दका अर्थ बाह्य जगत् में सूर्य चंद्र आदि देवता है और शरीरमें चक्षुरादि इंद्रियगण है। इस मंत्रमें मनुष्यमें आत्माग्निकी स्थापना करनेवाली जो देवतायें है, वही शरीर स्थानीय चक्षुरादि इंद्रियही है। इन इंद्रियोंके द्वारा आत्मा शरीरमें रखा गया है, किंवा ये इंद्रिय शक्तियां शरीरके अंदर आत्माका धारण कर रहीं है। जिस प्रकार सब ओहदेदार राष्ट्रमे राजाका धारण करते है, उसी प्रकार ये आत्माके ओहदेदार चक्षुरादि इंद्रियगण शरीरमें आत्माकी धारणा कर रहे हैं। यह आत्माग्नि ही सबके लिये प्रिय और हित-कारी है, और सबका सच्चा मित्र भी है। आत्मासे अधिक प्रिय और अधिक हितकारक मित्र दूसरा कोई भी नहीं है, यह बात पूर्वस्थलमें बता दी है। इसकी दक्षता इतनी है कि, यह रात्रीके अंधकारमें प्रकाश देकर सबका मार्ग दर्शक होता है। धर्मके लक्षणोंमें "आत्माकी तुष्टि" एक लक्षण इसी हेतुसे कहा है, देखिये—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ॥
एतच्चतुर्विधं ज्ञेयं साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

तथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ॥
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

मनु. २

यहां धर्मके लक्षणोंमें (१) श्रुति, (२) स्मृति, (३) सदाचार, (४) आत्माकी तुष्टि ये चार लक्षण कहे है। धर्मका अंतिम निश्चय

अपने आत्माकी तुष्टिसे होता है, इतना आत्माका अधिकार है, क्यों कि अंधकार पूर्ण रात्री के अत्यंत विकट प्रसंगमें यही आत्मा शुद्ध प्रकाश देकर ठीक मार्ग बताता है। सच्चा मित्र कौन है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहना पडेगा कि, वही सच्चा मित्र है जो कि कठिन प्रसंगमें सहायक होता है। यह लक्षण आत्माके मित्रत्व की सिद्धि करता है, क्यों कि जहां अन्य बल काम नहीं देते, वहां " आत्मिक बल " ही सहायता देता है। यह आत्मिक बल संयममें है, यह भाव उक्त मंत्रमें " दम " शब्द द्वारा व्यक्त किया है। इस प्रकार देवों द्वारा स्थापित आत्माग्निकी कल्पना है। इसी विषयका निम्न मंत्र देखिये—

(४१) मानवी प्रजामें अग्नि।

अधाय्यग्निर्मानुषीषु विक्ष्वपां गर्भो मित्र ऋतेन साधन्॥ आ हर्यतो यजतः सान्वस्थादभूदु विप्रो हव्यो मतीनाम्॥ ऋ. ३।५।३

(ऋतेन साधन्) सीधे मार्गसे जानेपर सिद्धि देनेवाला सच्चा मित्र और (अपां गर्भः) कर्मोंका केंद्र अग्नि (मानुषीषु विक्षु) मानवी प्रजाओंमें (देवैः) देवों द्वारा (अधायि) रखा गया है। यह (हर्यतः) स्पृहणीय और (यजतः) पूज्य होता हुआ (सानु) उच्च स्थानमें (आ स्थात्) रहता है। यह (वि-प्रः) विशेष ज्ञानी (मतीनां हव्यः) बुद्धियोंका हवन करने वाला (अभूत्) है।

आत्माग्नि मानवी देहमें उच्च स्थानमें निवास करता है, इस बात को यह मंत्र कहता है। मानवी देहमें हृदयसे लेकर मस्तक

तक जो स्थान है वही उच्च स्थान है। इसमें आत्माग्नि का निवास है। यह सच्चा मित्र है, और यही सीधे मार्गसे चलाता है, यही सब कर्मों और संपूर्ण हलचलोंका प्रेरक है। जिस प्रकार किरणोंका केंद्र सूर्य है, उसी प्रकार कर्मों का केंद्र यही आत्माग्नि है। यह इस शरीरमें सौ वर्ष निवास करके सेंकडों कर्म करता है, इसीलिये इसको " शत-ऋतु " कहते है। इसका स्वभाव-धर्म ही कर्म है, इसलिये इसको " क्रतु " भी कहते है। यह आत्मा चित् स्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप होनेसे ही इसको " वि-प्र " कहते है, तथा यही बुद्धिका प्रेरक है। इस प्रकार इस मंत्रका वर्णन आत्माका परिचय करा रहा है, इसका अधिक विचार पाठक करें। इसीके विषयमें अब निम्न मंत्र देखिये—

(४२) जीवन-रस रूप अग्नि।

अच्छा नो अंगिरस्तमं यज्ञासो यन्तु संयतः ॥
होता यो अस्ति विक्ष्वा यशस्तमः ॥

ऋ. ८।२३।१०

" (नः संयतः यज्ञासः) हमारे नियत यज्ञ (अंगि-रस्-तमं) अंगोंके रसोंमें मुख्य अग्निके प्रति (यंतु) पहुंचें। जो (विक्षु) प्रजाओं में (होता) हवनकर्ता और (यशस्-तमः) अत्यंत यशस्वी है। "

यह मंत्र अग्निका निश्चित रूप बता रहा है। यह अग्नि " अंगि-रस्-तम " है, प्रत्येक अंगमें जो जीवन रस है, उस प्रकारके जीवन रसोंमें अत्यंत मुख्य जीवन रस यही है। सब हमारे

कर्म इस मुख्य जीवन रसके संवर्धनके लिये ही होने चाहियें। मनुष्यों से ऐसा कोई कर्म नहीं होना चाहिये कि, जिससे इस मुख्य जीवन रस में कुछ क्षति हो सके। इसीका नाम " आत्मघातक कर्म " है। वास्तव में आत्माका घात नहीं हो सकता, परंतु आत्माके विकास में प्रतिबंध जिससे होता है, उस को आत्मघातक कर्म कहते हैं। इसी प्रकार आत्माग्निमें किसी प्रकारकी क्षति भी नहीं होती, तथापि उसके आत्मिक बलके विस्तार में जिनसे न्यूनता हो सकती है, वैसे कर्म नहीं करने चाहिये, और ऐसे करने चाहिये कि, जिनसे अंगोंमें मुख्य जीवन रसकी समृद्धि हो। मनुष्योंमें यही आत्मा यशका प्रदाता है। इसीलिये जो मनुष्य शातिसे आत्मिक बलके कार्य करता है, उसीका यश होता है। इस मंत्रका " अंगिरस्तम " शब्द इस अग्निकी मुख्य विभूति आत्माही है, यह भाव स्पष्ट कर रहा है। यह " **जीवन रस** " होने के कारण इसीसे सबकी पुष्टि होती है इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

(४३) देवोंका निवासक अग्नि।

अग्निर्देवेषु संवसुः स विक्षु यज्ञियास्वा ॥
स मुदा काव्या पुरु विश्वं भूमेव पुष्यति
देवो देवेषु यज्ञियो नभन्तामन्यके समे ॥

ऋ. ८।३९।७

" अग्नि देवोंमें तथा (यज्ञियासु विक्षु) पूज्य प्रजाओंमें (संवसुः) उत्तम निवासक है। वह (भूमा इव) भूमिके समान (पुरु विश्वं) सब कुछ पुष्ट करता है, तथा (मुदा) आनंदसे (काव्या)

कार्य्योंको करता है। वही देवों में पूजनीय है। (समे) सब (अन्यके) शत्रु (नमन्ताम्) नष्ट होजावें।

यह मंत्र अग्निका स्वरूप विज्ञान होनेके लिये अनेक दृष्टियोंसे उपयोगी है। देवोंके अंदर रहता हुआ यह अग्नि देवोंका उत्तम प्रकारसे निवासक होता है। पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि, यह बात आत्माग्निमें ही विशेष कर घट सकती है, क्योंकि देवों अर्थात् इंद्रियोंमें रहता हुआ ही आत्मा उन इंद्रियोंका निवास उत्तम प्रकार कर रहा है। जिस प्रकार भूमि सब का पोषण कर रही है, उसी प्रकार आत्मा सबका पोषण कर रहा है। कई पाठक यहां शंका करेंगे कि, पौष्टिक अन्न से पोषण होता है, आत्माग्नि किस प्रकार पोषक हो सकता है? इसका उत्तर इतनाही है कि मुर्देमें कितना भी पौष्टिक अन्न रखा जाय, उस अन्नसे मुर्दा पुष्ट नहीं होगा; क्यों कि "**सच्चा पोषक**" वहां नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि, आत्मा ही पोषक है, और अन्य पौष्टिक अन्नादि सहायक है। यह आत्माग्नि सबसे प्रमुख है, इस लिये (**देवेषु यज्ञियो देवः**) देवोंमें पूज्य देव अर्थात् सब इंद्रियोंमें पूज्य आत्माही है, यह मंत्रका वर्णन सार्थ हो जाता है, इस प्रकार यह वर्णन देवोंके निवासक अग्निका है। पाठक इस मंत्रमें यह वर्णन देखें और देवोंद्वारा स्थापित अग्निका वर्णन पूर्व मंत्रोंमें पढें, इन दोनों वर्णनोंका विचार करनेसें उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि यद्यपि ये दोनों वर्णन दो भिन्न दृष्टिकोनोंसे हुए है, तथापि एकही पदार्थ के है। इंद्रियोंमें रहनेवाला, इंद्रियोंको पुष्टि देनेवाला, इंद्रियों-

द्वारा प्रकट होनेवाला एकही आत्मा है । यही भाव विश्वव्यापक परमात्माके विषयमें सत्य है क्योंकि, वह परमात्मा सूर्यादि देवोंमें रहता है, इन देवताओंको पुष्ट करता है, और इन देवताओंसे ही प्रकट हो रहा है । व्यापकता का वर्तुल छोटा लिया, तो वही वर्णन आत्मा के विषयमें हुआ, और व्यापकता का वर्तुल अमर्याद बढा लिया, तो वही वर्णन परमात्माका हुआ । यह बात यहा स्पष्ट हो जाती है । वेदकी वर्णन शैलीकी यही अद्भुतता है । पाठक यहां इसका अनुभव करें । अस्तु । इस प्रकारका यह आत्माग्नि मनुष्योंमें ही प्रज्वलित होता है, अर्थात् अन्य प्राणिमात्रमें यह वैसा तेजस्वी नहीं होता, जैसाकि मानवी देहमें होता है । इसका कारण स्पष्टही है कि, मानवी योनि " **कर्म योनि** " है, यहां ही पुरुषार्थ होना संभव है; उस प्रकार अन्य योनियोंमें संभव ही नहीं है । पुरुषार्थके विना उन्नति होनी अशक्य है, इसलिये ही मंत्रमें कहा होता है कि, " मानवी प्रजामें यह आत्माग्नि प्रदीप्त होता है " और देखिये——

न यस्य सातुर्जनितोरवारि न मातरा पितरा नूचिदिष्टौ ॥
अधा मित्रो न सुधितः पावकोऽग्निर्दीदाय मानुषीषु विक्षु ॥

ऋ. ४।६।७

" जिस (जनितोः) उत्पादक के (सातुः) तेजको मातापितादि कोई भी (न अवारि) प्रतिबंध कर नहीं सकते, इस प्रकारका (मित्रः न) मित्रके समान हितकारी (सुधितः पावकः अग्निः) सुरक्षित शुद्ध अग्नि (मानुषीषु विक्षु) मानवी प्रजाओंमें (दीदाय) प्रदीप्त होता है ।"

जिस समय यह आत्माग्नि मानवी प्रजाओंमें प्रदीप्त होता है, उस समय उस महान आत्माका तेज फैलता जाता है, कोई उसको प्रतिबंध कर नहीं सकते, इतनाही नहीं, परंतु जो प्रतिबंध करनेका यत्न करते है, वेही नष्ट भ्रष्ट होते हैं; अथवा उनके प्रतिबंध के कारण उस महान आत्माका तेज अधिक विस्तृत होने लगता है। इस बातकी साक्षी इतिहासमें सर्वत्र मिलती है। आत्मिक बलकी उग्रता सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। यह आत्मा सबका मित्र होनेसे जिसमें इसका तेज प्रदीप्त होता है, वह बडा यशस्वी हो जाता है। इस मंत्रमें (मानुषीषु विक्षु दीदाय) मानवी प्रजाओंमें यह आत्माग्नि प्रदीप्त होता है, यह बात स्पष्ट कही है। इसका अर्थ यह है कि, अन्य प्राणियेंमें यह निवास करता है, परंतु वहां यह विकसित नहीं हो सकता, क्योंकि उन्नति साधक योनी मनुष्य योनीही है। इसका वर्णन ऐतरेय उपनिषद् में देखिये—

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन् ...॥ ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥ ताभ्यो गामानयत्, ता अब्रुवन्न वै नोयमलमिति ॥ ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥ ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति ॥ पुरुषो वाव सुकृतम् ॥ ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥ ऐ. उ. २

"वे सब देवतायें इस बडे समुद्रमें आ पडीं। सब देवतायें उससे कहने लगीं कि, हमे स्थान दो कि जहां बैठकर हम अन्न खायेंगे।

वह देवताओंके सन्मुख गौ लाया, देवताओंने कहा कि यह ठीक नहीं है, पश्चात् घोडा लाया, उसको देखकर देवताओंने कहा कि यह भी ठीक नहीं है। इसके अनन्तर मनुष्य लाया गया, उसे देखकर देवतायें कहने लगीं कि यह ठीक है, मनुष्य ही ठीक है। ऐसा कह कर सब देवतायें अपने अपने स्थानपर इस मानवी देहमें बैठ गईं।"

यह विकास–वादका वर्णन स्पष्टतासे कह रहा है कि, मानवी योनी ही उत्कर्षकी योनि है, और इसके अंगप्रत्यंगोंमें संपूर्ण देवतायें निवास कर रहीं है, और अपना अपना भोग्य भोग ले रहीं हैं। इन सब देवताओंका अधिष्ठाता आत्मा है, जिसके साथ देवतायें आतीं है, और वह जिस समय इस देहको छोडकर चला जाता है, उस समय चली जातीं है। यह वर्णन ही वेदमंत्रोंमें अनेक प्रकारके रूप रूपातरोंसे आया है। अस्तु। तात्पर्य यह है कि यह आत्मा इस मानवी योनिमें ही उत्कर्षको प्राप्त हो सकता है, और जिस समय इसका तेज फैलने लगता है, उस समय उसको कोईभी शक्ति रोक नहीं सकती। यही वर्णन उक्त मंत्रमें है। अब और एक दृष्टिकोन से देखिये। पूर्व स्थलमें एक मंत्र दिया ही है, जिसमें कहा है कि, यह आत्माग्नि देवों द्वारा प्रकट होता है। यही भाव निम्न मंत्रमें भिन्न रूपकसे वर्णन किया है—

(४४) दस बहिनें इसको प्रकट करतीं हैं।

द्वियं पंच जीजनन्त्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु ॥ ऋ. ४।६।८

" इस अग्निको (द्विः पंच स्वसारः) दो गुणा पाच बहिनें मानवी प्रजाओंमें (सं वसानाः) रहती हुई (जीजनन्) प्रकट करतीं है। "

दो गुणा पांच बहिनें अर्थात् दस बहिनें मानवी शरीरमें है,और ये दस बहिनें इस आत्माग्निको प्रकट करतीं हैं। पंच ज्ञानेंद्रियां और पंच कर्मेंद्रिया इस देहमें है, और उनके द्वारा यह आत्मा प्रकट हो रहा है। यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है। अंदर आत्माका अस्तित्व है, यह बात इंद्रियोंके द्वारा ही प्रकट हो रही है, यदि इंद्रियां न होतीं, तो अंदरके मुख्य देवको जाननाही अशक्य होता। विचार करके पाठक देखेंगे, तो उनको इस बातका पता लग जायगा कि, इंद्रियोंके कार्य से ही आत्माके अस्तित्वका अनुमान होता है, तात्पर्य इंद्रियोंसे आत्मा प्रकट होता है। यही भाव देवों द्वारा प्रकट होनेवाले अग्नि में है। पाठक यहा देखें कि, विभिन्न दृष्टिकोनोंके वर्णनोंसे एकही बात किस प्रकार व्यक्त हो जाती है। और इस मुख्य बातको ही सर्वत्र देखनेका यत्न करें। इंद्रिय शक्तियां आत्माकी बहिनें हैं, इसमें अलंकारकी दृष्टिसे कोई अत्युक्तिही नहीं है। परंतु इसमें एक विशेष विचार करने योग्य श्लेषार्थ भी है। " स्व-सृ " शब्दका अर्थ " बहिन " है, परंतु इसका यौगिक अर्थ (**स्वं सरति**) अपने निजके प्रति जो जाती है, अथवा (**स्वात् सराति**) अपने निज से जो चलती है, वह " **स्व-सृ** " है। अर्थात् जागृतिकी अवस्थामें जो इंद्रियां आत्मासे शक्ति लेकर बाहिर जातीं है और सुषुप्ति अवस्था में जो इंद्रियां बाहिरसे आकर आत्माके अंदर लीन हो जातीं हैं, वह सब इंद्रिय शक्तियां आत्माकी बहिनें ही हैं। यह श्लेषार्थ पूर्ण-

तया आत्मा और इंद्रियशक्तियोंमें संगत हो रहा है। इस रीतिसे अनेक दृष्टिकोनों द्वारा एक ही सद्वस्तुके भिन्न भिन्न आशय प्रकट हो रहे हैं। वेदके वर्णन में यह श्लेषार्थकी अपूर्वता पाठक देख सकते हैं। यह अग्नि मनुष्योंके अंदर ही है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

त्वं होता मंद्रतमो नो अध्रुगंतर्देवो विदथा मर्त्येषु ॥

ऋ. ६।११।२

“ हे अग्ने ! तू (मर्त्येषु अंतः) मनुष्योंके अंदर है और (विदथा) इस यज्ञमें हवन कर्ता तू ही है। तथा (मंद्रतमः) सुखदायक और (अ–ध्रुक्) द्रोह न करनेवाला देव तूही एक है।”

अग्नि मनुष्यके अंदर है, मानवी आयुष्यमें जो शतसांवत्सरिक यज्ञ चलता है, उसका होता अर्थात् याजक यही आत्माग्नि है। यह बात अब अधिक स्पष्ट करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वेद ही स्वयं कह रहा है कि यह आत्माग्नि मनुष्यके अंदर रहता है, और द्रोह न करता हुआ सबको सुख देता है। यही सबको पूज्य और प्राप्तव्य है क्योंकि यही सबसे मुख्य है। कितनी स्पष्टतासे वेद कह रहा है, यहां देखने योग्य है। इतना स्पष्ट कथन होनेपर किसीको शंका नहीं होनी चाहिये। परंतु वैदिक दृष्टिकोन ठीक प्रकार ध्यानमें न आनेके कारण यह सब गडबड हो रही है। एकवार वेदका दृष्टिकोण समझमें आगया, तो कोई शंका ही नहीं रहेगी। अस्तु। इस आत्माग्निके पूज्य होनेके विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ॥

त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ ऋ. ८।११।१

" हे अग्ने ! हे देव ! तू मर्त्योंमें व्रतपालक है, और तू ही यज्ञोंमें पूज्य है । " मर्त्य शरीरमें अमर आत्मा है, इसलिये अमर की ही पूजा करनी योग्य है । अमरको छोडकर मरनेवालेकी पूजा कौन करेगा ? सब प्रकारके यज्ञोंमें जिसकी पूजा होती है, वह यही आत्माग्नि है । यही व्रतपालक अर्थात् नियम पालक है । उन्नतिके सब नियम पालन करके विकासित होना इसका ही स्वभाव-धर्म है । इस प्रकार आत्माकी उपासना वेद मंत्रोंद्वारा सूचित होती है । यही आत्मा सबका रक्षक है, इस विषय में निम्न मंत्र देखिये—

(४५) प्रजाका रक्षक ।

अग्निं द्वेषो योतवै नो मृणीमस्यग्निं शंयोश्च दातवे ॥
विश्वासु विक्ष्ववितेव हव्यो भवद्वस्तु ऋषूणाम् ॥

ऋ. ८।७१।१५

" (नः द्वेषः) हम शत्रुओंको (योतवै) दूर करनेके लिये अग्निकी (मृणीमसि) स्तुति करते है । तथा (शं योः च) सुख प्राप्ति और दुःख दूरीकरण के लिये अग्निकी उपासना करते है । क्यों कि यही अग्नि (विश्वासु विक्षु) सब प्रजाओंमें (अविता) रक्षण करता है और इसलिये (ऋषूणां) ऋषियोंका (वस्तुः) निवासक (हव्यः) और प्राप्तव्य हुआ है । "

आत्माग्निकी उपासना करनेसे कौनसे लाभ होते है, यह इस मंत्रमें उत्तम प्रकार वर्णन किया है, (१) शत्रुके साथ युद्ध करके उनको दूर भगानेका सामर्थ्य प्राप्त होता है, (२) शांति प्राप्त

होती है और दुःख दूर होते है । क्योंकि यही आत्मिक बलसे युक्त होनेके कारण सब प्रजाओंमें सच्चा रक्षक है और इसीलिये ऋषि इसकी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं ।

इस मंत्रमें अग्नि शब्दसे आत्माका वर्णन स्पष्ट ही हुआ है। यह वर्णन आत्मामें ही सार्थ होता है, इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि इस समयतक यही एक विषय वारंवार आगया है । यह आत्माग्नि मुख्य है, और इससे ही सब इंद्रियादिकोंको सुख होता है, इस विषयमें स्पष्ट मंत्र यह है—

महाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतो न ऋते त्वदमृता मादयन्ते ॥
आ विश्वेभिः स रथं याहि देवैर्न्यग्ने होता प्रथमः सदेह ॥

ऋ. ७।११।१

" हे अग्ने ! तू (अध्वरस्य) इस यज्ञका (महान् प्रकेतः) वडा ध्वज है । (त्वत् ऋते) तेरे विना (अमृताः) देव (न मादयन्ते) सुखी नहीं होते । (विश्वेभिः देवैः) सब देवोंके साथ (स-रथं) अपने रथपर से आओ और (प्रथमः होता) मुख्य याजक बनकर (इह) यहां (नि सद) बैठो । " देखिये, कैसा इस वर्णनका प्रत्येक वाक्य अपने अंदर अनुभव होता है । (१) इस शत-सांवत्सारिक महायज्ञका यही आत्माग्नि मुख्य चिन्ह है, (२) इस आत्माग्निके विना कोई इंद्रिय सुख का अनुभव कर ही नहीं सक्ती, (३) सब इंद्रियशक्तियोंके साथ यह आत्मा यहां इस देहमें आता है और जानेके समय भी सबको साथ ले जाता है, मानो सब देव इसके रथ परसे यहां आते है, किंचित् काल रहते हैं

और इसीके रथ पर बैठकर इसके साथ ही चले जाते है। (४) यहां इस देहमें--इस कर्म भूमिमें--जो यह शतसांवत्सरिक यज्ञ चल-रहा है, उसका मुख्य याजक यही आत्माग्नि है। इत्यादि प्रकार विचार करनेसे उक्त मंत्रके कथनका साक्षात् अनुभव अपने शरीरमें ही होता है। और जिस समय अपनेमें यह दृष्टि खुल जाती है, उस समय वेदमंत्रोंकी सत्यता अधिकाधिक अनुभवमें आजाती है। सब अनुभव अपने अंदर ही होना है, किसी बातका अनुभव बाहिर नहीं हो सकता। अपने अंदर जो अनुभव बीजरूपसे होता है, विस्तृत रूपसे वही अवस्था बाह्य जगत् में है, परंतु यह तर्कसे जानी जाती है, अर्थात् अनुभव की बात अपने अंदर ही होती है। पाठक इस दृष्टिसे मंत्रोंका विचार करें और सत्य बातका साक्षात् अनुभव लेने और देखनेका पुरुषार्थ करें। अब एक अनुभवकी बात देखिये। देवोंके साथ यह आत्माग्नि इस शरीरमें आता है, रहता है और चला जाता है, यह वर्णन पूर्व स्थलमें आया है। इसके आनेका मार्ग देखिये--

(४६) देवोंके साथ अग्निका बैठनेका स्थान।

अग्ने विश्वेभिः स्वनीक देवैरूर्णावंतं प्रथमः सीद योनिं॥
कुलायिनं घृतवंतं सवित्रे यज्ञं नय यजमानाय साधु॥

ऋ. ६।१५।१६

"हे (स्वनीक अग्ने) उत्तम सेनापते अग्ने! तू प्रथम देवोंके साथ आकर (ऊर्णा--वंतं योनिं) ऊनसे युक्त योनिके स्थानमें (सीद) बैठ जाओ । और (सवित्रे) प्रसवकरने वाले यजमानके

लिये (साधु) उत्तम प्रकारसे (कुलायिनं) घर बढानेवाले तेजस्वी यज्ञको (नय) चलाओ । "

" सब देवोंके साथ ऊनवाली योनि स्थानमें आकर बैठ जाओ । " यह मंत्रका पहिला कथन है । स्त्रीका योनिस्थान देहका जन्मस्थान है, इसलिये स्पष्ट है कि यदि किसी रीतिसे आत्मा-ग्निका अन्य देवोंके साथ आगमन इस देहमें होना है, तो इस योनि-मार्गसे ही होना चाहिये । दूसरा कोई मार्ग नहीं । मंत्रके " ऊर्णा-**वंतं योनिं**) ऊनवाली योनी " ये शब्द स्पष्टतया बता रहे हैं कि गर्भधारण योग्य तरुण युवतीके ही सूचक ये शब्द है, क्योंकि तारुण्यमें ही उस स्थानपर बालोंकी उत्पत्ति होती है । गर्भधारण के समय सब दैवी शक्तियोंके समेत जीवात्मा यहां आवे और प्रवेश करे, यह इच्छा यहां स्पष्ट रीतिसे व्यक्त हो रही है ।

शरीरमें देवोंका अंशावतार होनेका वर्णन ऐतरेयोपनिषद्के प्रारंभ मेंही है । अग्नि, वायु, रवि आदि देव क्रमशः वाक्, प्राण, चक्षु आदिके रूप धारण करके इस शरीरमें आबसे है, और यहांका कार्य कर रहे हैं । यह उपनिषद्का कथन सत्य होनेके लिये आत्माके अन्य देवोंके साथ इस शरीरमें आना आवश्यकही है । इसका आगमन जिस मार्गसे होता है, उस मार्गका वर्णन उक्त मंत्रमें किया है । रज-वीर्यका संयोग होकर जिस समय गर्भ बनने लगता है, उस समय आत्माके समेत सब देवतायें आती है और अपने अपने स्थानमें रहती है (ऐ. उ, २) । आत्माग्नि (स्वनीक=सु+अनीक) उत्तम सैन्ययुक्त है, अन्य देवताओंके अंशही उसका सैन्य है ।

महा यह सेनापति जाता है, वहां उसके सैनिक जाते है। (विश्वेभिः देवेभिः) सब देवोंके अंशोंके साथ यह आत्माग्नि ऊनवाली योनीमें आता है, इस कथनसे एक बात सिद्ध होती है कि, जगत्में जितने देव हैं। अर्थात् दैवी तत्त्व हैं, उन सबके अंश इस देहमें है। पंच महाभूत पांच बडे देव है । इन महाभूतोंके अंश इस देहमें है। इसी प्रकार अन्य देवोंके अंश इस देह में रहते है। देवताका जो अंश इस शरीरमें आता है, वह इस शरीरका निज बनकर रहता है, पृथ्वीका अंश मिट्टीके रूपसे शरीरमें नहीं है, परंतु उसका शरीर बन कर वह अंश रहता है। इसी प्रकार अन्यान्य देवों के विषयमें समझना चाहिये। ये सब देव यहां आकर इस शतसांवत्सरिक सत्र को चलाते है। यह बात (यज्ञं नय) " यज्ञ को चलाओ " इन शब्दों द्वारा सूचित की है। यह यज्ञ (कुलायिनं घृतवंतं) कुल अथवा घर बढाने वाला और तेज वृद्धिंगत करने वाला है। आत्मा इस शरीरमें जब संपूर्ण देवोंके साथ आता है, तब घर बढता है, इसका अनुभव संतान उत्पत्तिकी खुशीसे पाठकोंको हुआ ही है, इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक देखें कि, वैदिक तत्व ज्ञान कैसा प्रत्यक्ष होता है, देखिये निम्न मंत्र—

(४७) यज्ञका झंडा।

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे ॥ इंद्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः ॥ ऋ. ५।११।२

“ (नरः) मनुष्य (प्रथमं पुरोहितं) पहिले पूर्ण हितकारी (इंद्रेण देवैः) इंद्रके तथा अन्य देवोंके साथ (स-रथं) एक रथमें आनेवाले अग्निकी प्रदीप्ति (त्रि-सधस्थे) तीन स्थानोंमें करते है। यह अग्नि यज्ञका ध्वज है। वह उत्तम यज्ञ करनेवाला (वर्हिषि) अंतःकरणमें बैठकर हवन करता है। ”

इंद्र और अन्य देवोंके साथ एक रथमें आनेवाला यह अग्निदेव है। इंद्र देवोंका अधिपति है। तेतीस कोटी देवोके साथ इंद्रको भी अपने रथपर से लानेवाले अग्निका रथ कितना बडा होगा? क्या इसका अंदाजा हो सकता है? यदि सूर्य चंद्रादि सबही देव अग्निके रथमें बैठने है, तो उस अग्निका रथ इस विश्वके बराबर विशाल होना चाहिये। तात्पर्य व्यापक दृष्टिसे देखा जाय, तो संपूर्ण जगत् ही इस अग्निका रथ है; इस रथपर सूर्य चंद्र, नक्षत्र, वायु आदि सब देव बैठे है। यहां विश्व-व्यापक परमात्मा रथी है, और अन्य देव उसके रथपर बैठनेवाले उसके सहायक हैं। इसका प्रतिरूप दूसरा छोटा रथ है, जिसको देह कहते है; इसमें आत्माग्नि रथी है, और संपूर्ण देवताओंके अंश अर्थात् इंद्रिय उसके सहायक है। यह जीवात्माका रथ छोटा है, और परमात्मा बडा है। तथापि दोनोंमें, छोटे और बडेपनको छोड दिया जाय तो, तत्वोंकी एकता ही है। देहमें अंशरूप ३३ देव हैं, और विश्वमें विस्तृत ३३ देवता विराजमान हुए हैं। इस प्रकार विचार करके मंत्रका तत्व जानना चाहिये। यह मंत्रका तत्व इस शरीरमें ही प्रत्यक्ष होता है, इसलिये अध्यात्म दृष्टिसे मंत्रका अर्थ मुख्य और अन्य रीतिसे गौण है।

" यज्ञका झंडा " यही आत्माग्नि है। शरीरमें जो शतसांवत्सरिक सत्र चल रहा है, उसका सबसे प्रमुख अधिकारी यही है, यही पूर्ण हितकर्ता है। इस की पूजा तीन (त्रि-सधस्थे) तीन स्थानोंमें होती है (१) मस्तिष्क (२) हृदय और (३) पेट में इसकी पूजा हो रही है। **जो केवल पेटकी ही पूजा करते हैं, वे गिरते हैं; परंतु जो साथ साथ मस्तिष्कके ज्ञान से और हृदयकी भक्ति से भी इसकी पूजा करते हैं वे दुःखके पार हो जाते हैं।** तीन स्थानोंमें, तीन धामों में इस प्रकार इसकी उपासना करना आवश्यक है। यही तीन धामोंकी यात्रा है, जो करनेसे पुण्य मिलता है और न करनेसे पाप लगता है। यही आत्माग्नि मस्तिष्कमें ज्ञानरूप कार्य करता है, हृदयमें शांतिका अनुभव करता है और पेटमें भक्षक बनकर अन्नरसोंको अपनाता है। ये इसके कार्य देखने योग्य हैं। वेदमें इन तीन धामों और स्थानोंका वर्णन अनेक स्थानमें है, इसलिये इस बातका ठीक ज्ञान होनेपर उन मंत्रोंकी संगति लग सकती है॥ यह आत्मा (बर्हिषि) अंतःकरणमे बैठता है, यही इसका मुख्य स्थान है। यही सबका केंद्र है, यहींसे यह राजा सर्वत्र प्रेरणा भेजता है, यहींसे यह यजमान सर्व यज्ञमंडपका यज्ञप्रबंध करता है, यहींसे यह रथी अपने रथके घोडे चलाता है, और विरोध करनेवाले शत्रुओंसे लडकर अपना जय प्राप्त करता है। इसी लिये इसको (सु+क्रतु) उत्तम कर्म करनेवाला कहा है। इस प्रकार जो उत्तम कर्म करता है, उसकी शक्ति विकसित होती है और जो नहीं करता उसका विकास वैसा नहीं होता। इसलिये ही कर्मका महत्व बडा

भारी है। इसका यह यज्ञ किस स्थानमें दिखाई देता है ? ऐसा प्रश्न यहां पूछा जा सकता है, उसका उत्तर निम्न मंत्रमें देखिये--

(४८) देवों में यज्ञ।

इमं नो यज्ञममृतेषु धेहीमा हव्या जातवेदो जुषस्व॥

ऋ. ३।२१।१

" इस हमारे यज्ञको (अ-मृतेषु) अमरदेवों में (धेहि) पहुंचा-ओ, और हे (जात-वेद:) वेद जनक अग्ने! इन हवनीय पदार्थोंको स्वीकार करो। "

इस मंत्रमें कहा है कि, यह अग्नि यज्ञके हव्य पदार्थोंको लेता है और देवों में पहुंचाता है। जो अग्नि हवन कुंड में रहता है, उसमे डाली हुई आहुतियां सूर्य, चंद्र और नक्षत्रादि देवोंतक पहुंचतीं हैं, या नहीं इस विषयमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। यह वात तर्कसे नहीं विदित हो सकती। किसी ग्रंथके वचनपर कोई विश्वास करे, वह वात दूसरी है, परंतु प्रत्यक्ष अनुभव इस विषयमें कोई भी नहीं है। परंतु इसका अनुभव अध्यात्ममें अर्थात् अपने शरीरमें प्रत्यक्ष हो सकता है। जो अन्न पेटमें डाला जाता है, उसके अंश संपूर्ण इंद्रियों और अवयवों में यथा भाग पहुंचते हैं, इस जठराग्निमें डाली हुई आहुतियें सूर्यके प्रतिनिधिरूप नेत्रमें जातीं हैं और वहांकी पुष्टि करतीं हैं, इसी प्रकार अन्य देवताओंके प्रतिनिधिभूत जो अन्य इंद्रियगण हैं, उनकी भी इसी प्रकार पुष्टि होती है। यह प्रतिदिनके अनुभवका ज्ञान है। यद्यपि यह आत्माग्नि अन्नके विभाग किस प्रकार करता है और इंद्रियों में रहनेवाले देवोंतक किस रीति से पहुंचाता है, इसका भी

हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है; तथापि अनुभव से पता है कि, वह पहुंचाता है और वहांके देवताकी पुष्टि करता है। वैद्यलोग इसका ज्ञान अधिक विस्तारसे बता सकते हैं, उस प्रकार सामान्य मनुष्यको बताना असंभव है, परंतु अन्न खानेके बाद शरीरकी पुष्टिका अनुभव बताता है कि यह आत्माग्निका ही कार्य है, क्यों कि आत्माग्नि चला गया, तो शरीरकी पुष्टि नहीं होती। इस बातका विचार करनेसे इसका नाम "(हव्य वाह्) हव्य पदार्थोंको देवताओंतक पहुंचानेवाला" किस उद्देश्यसे रखा है, इस बातका पता लग सकता है।

(४९) यही दूत है।

दूत नाम सेवक का होता है। आज्ञाकारी सेवक आज्ञाके अनुसार कार्य सत्वर करता है। पेटमें रखा हुआ अन्न संपूर्ण इंद्रियोंतक पहुंचानेका दूतका कार्य यह करता है। इसीलिये इस आत्माग्निको अनेक सूक्तों में " दूत " कहा है—

विश्वे हि त्वा सजोषसो देवासो दूतमक्रत ॥
श्रुष्टी देव प्रथमो यज्ञियो भुवः ऋ. ८।२३।१८

" (स-जोषसः) एक विचारसे कार्य करनेवाले सब देवोंने तुमको दूत (अक्रत) बनाया है। हे देव तू पहिला (यज्ञियः) पूज्य देव है।"

इसमंत्रके प्रथम अर्धमें कहा है कि, " देवोंने इसको दूत बनाया है।" और दूसरे अर्धभागमें कहा है कि, " यह पहिला पूज्य देव है।" जो सबसे प्रथम पूजनीय देव है, वह सबसे श्रेष्ठ देव होना स्वाभाविक है, इसलिये यहा शंका हो सकती है कि, जो

सबसे श्रेष्ठ देव है, वह सब गौण देवों का दूत कैसा हो सकता है ? इस शंकाका समाधान होनेके लिये एक उदाहरण लेता हूं। राजा, महाराजा अथवा सम्राट् अपने राज्यमें सबसे श्रेष्ठ होता है, उसके नीचे अनेक ओहदेदार होते हैं, और इनके आधीन सब प्रजाजन रहते है । तथापि सब ओहदेदारोंको प्रजाके नौकर (Public servant) ही कहा जाता है। प्रजाके नौकरोंमें जो **" सबसे बडा नौकर "** होता है, वही **" राजा, महाराजा और सम्राट् "** कहलाता है। तात्पर्य यह है कि, यद्यपि राजाके और राजपुरुषोंके आधीन प्रजाजन होते है, तथापि वे सबही अधिकारी प्रजाजनोंके नौकर ही होते हैं, और राजा नौकरोंका भी बडा नौकर होता है। इसलिये वही राजा इतिहासमें सुपूजित होता है कि जो अपनी नौकरी सबसे उत्तम करता है। जिसप्रकार अधिभूत में अर्थात् राष्ट्रमें यह बात सत्य है, उसी प्रकार अध्यात्ममें भी सत्य है। यहां आत्मा राजा महाराजा और सम्राट् है, और इसीलिये उक्तप्रकार वह सबका सबसे बडा दूत, नौकर अथवा सेवक है। इसी कारण जो अन्न उसके पास दिया जाता है, वह सब देवोंके पास पहुंचाता है, तथा हरएक प्रकारसे (देवों) इंद्रियोंकी सेवा करता है। वह अपनेलिये कुछ भी चाहता नहीं, जो कुछ चाहता है, सब इंद्रियोंके लिये ही चाहता है। यह इस आत्माग्निका दूतकर्म विचार की दृष्टिसे देखने योग्य है। परमात्माका यही दूतकर्म त्रिभुवनमें हो रहा है।

पाठक यहां एक नया दृष्टिकोणका अनुभव कर सकते हैं।

पर्व समयमें इस आत्माग्निका वर्णन अधिकारीके भावसे किया, अब उसीका वर्णन दूत भावसे किया जाता है। वेदमें इस प्रकार अनेक दृष्टि कोण है, हरएक दृष्टि कोणसे एकही वस्तु देखी जाती है, और उसीके अनेक विभिन्न पहलुओंका वर्णन किया जाता है। यह प्रयास इसलिये है कि, उस सद्वस्तुका सब पहलुओंसे यथार्थ ज्ञान सबको हो जावे। जो पाठक इन सब दृष्टिकोणोंको यथावत् जान सकते है, वेही वेदकी गंभीरता जान सकते हैं। अस्तु। अब इसके अनंतर अग्निके गुहानिवासित्वका विचार करेंगे, इसके विचारसे अग्निके शुद्ध स्वरूपका पता लग सकता है।

(५०) गुहा संचारी अग्नि।

गुहा संचारी अग्निका स्वरूप अब देखना है। इसका मूल स्वरूप देखनेके लिये "गुहा" शब्दका वैदिक अर्थ देखना चाहिये। इस लिये निम्न वचन देखिये—

आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥ कठ. उ. २।२०

विद्धि त्वमेनं निहितं गुहायाम् ॥ कठ. उ. १।१४

गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ॥ कठ. उ. २।१२

आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ॥ श्वे. उ. ३।२०

महा. ना. उ. ८।३

एष पंचधात्मानं विभज्य निहितो गुहायाम् ॥ मैत्री उ. २।६

एतद्यो वेद निहितं गुहायाम् ॥ मुंड. उ. २।१।१०

अंतश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वतो मुखः ॥ महा. ना. उ. १९।६

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदम् ॥ मुंड. उ. २।२।१

इस प्रकार " गुहा " शब्दका प्रयोग उपनिषदोंमें अनेक स्थान पर आया है। इन सब वचनोंका यही तात्पर्य है कि " आत्मा इस प्राणीकी (गुहा) अर्थात् हृदय में रहता है।" गुहा शब्दका अर्थ इस दृष्टिसे " हृदय, अंतःकरण, " आदि है। कोशोंमें भी " गुहा " शब्दका अर्थ " हृदय, बुद्धि, अंतःकरण, गुफा, गुप्त रहनेका स्थान " इस प्रकार दिया है। आत्मा हृदय की गुहामें छिपा है, वहांही उसको देखना चाहिये, यह भाव वेद और वेदांत शास्त्रमें सर्वत्र है, इस प्रकार गुहा शब्दका अर्थ "हृदय" निश्चित हुआ। जो गुहामें होता है उसको " गुह्य " कहते है। हृदयके अंदर अपने मनमें ही जो रखनेकी बात होती है, उसको गुह्य कहते है। आत्माका भी नाम गुह्य इसलिये है कि, वह हृदयमें गुप्त होता है। इस दृष्टिसेभी गुहाका अर्थ अंतःकरणही होता है इस अर्थको लेकर निम्न मंत्र देखिये—

पश्वा न तायुं गुहाचरन्तं नमो युजानं नमो
वहन्तम्॥ सजोषा धीराः पदैरनुग्मन्नुप त्वा
सीदन् विश्वे यजत्राः॥ ऋ. १।६५।१

इस मंत्रके दो अर्थ है। एक अर्थ चोरके विषयका है और दूसरा आत्माके विषयका है। इस मंत्रका ऋषि पराशर है और देवता अग्नि है। देखिये इसके दोनों अर्थ—

(१) चोर-विषयक अर्थ—(न) जैसा पशुकी चोरी करके (तायुं) चोर उस (पश्वा) पशुके साथ (गुहा-चरन्तं) पर्वतों की गुहाओंमें जा कर छिप जाता है, वहां वह चोर अपनेसाथ

(नमः वहन्तं) अन्न भी रखता है और (नमः युजानं) शस्त्रकी भी योजना करता है। इस प्रकारके बडे डाकू को पकडनेके लिये (स-जोषाः यजत्राः-विश्वे धीराः) एक विचारसे प्रयत्न करने वाले सब धैर्य-शाली वीर (पदैः अनुग्मन्) पशुके और चोरके पांवोंके चिन्ह जो भूमिपर लगे होते है, उनको देख देख कर पास पहुंचते है और (उप सीदन्) बिलकुल समीप जाकर उसको पकडते है। इसी प्रकार धैर्यसे चोरको पकडना चाहिये।

जो डाकू, चोर, लुटेरे आदि होते हैं, वे शहरोंमें चोरी करके पशु, धन, अन्न, आदि पदार्थ अपने साथ लेकर भागते है और पर्वतोंके दुर्गम स्थानोंमें जाकर छिपते है। वहां वे रहते है, अपने साथका अन्न खाते है और पकडनेका प्रयत्न करनेवाले नागरिकोंके ऊपर अपने पासके शस्त्रप्रयोग करते है और पास आने नहीं देते !! इस प्रकारके चोरोंको पकडकर दंड देना चाहिये। पकडनेकी यह युक्ति है कि सबको एक विचारसे मिलकर, संघ बनाकर, आगे बढना चाहिये और, उसके पदचिन्होंको देख देख कर उसका पता लगाना चाहिये, और युक्तिसे उसको पकडना चाहिये। यह चोरको दंड देने और उससे जनताका बचाव करनेके विषयमें वेदका उपदेश है। इसका यहां अधिक विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। जैसी गुहामें चोरकी खोज की जाती है, उसी प्रकार हृदयकंदरामें आत्माकी खोज होती है। इस विषयका अर्थ देखिये-

(२) आत्माके विषयमें अर्थ—(न) जिस प्रकार (तायुं) चोर पशुके साथ गुहामें रहता है, उस प्रकार (पश्वा) इंद्रियादि

शक्तियोंको लेकर (गुहा—चरन्तं) जो हृदय में रहता है, और वहां (नमः वहन्तं) नमस्कारोंको स्वीकार करता है और (नमः) युजानं) नमनका योग करता है, उसको देखनेके लिये (स—जोषाः धीराः) समान ज्ञानवाले बुद्धिमान् लोग (पदैः) मंत्रोंके पदोंके साथ, अथवा आत्माके जो पद इंद्रियादि स्थानोंमें दिखाई देते है, उनको देख देख कर (अनु-ग्मन्) पीछेसे जाते है और वे (विश्वे यजत्राः) सब याजक (उप सीदन्) पास बैठते हैं अर्थात् उपासना करते है।

एकही मंत्रमें ये दोनों भाव देखने योग्य हैं। चोर की उपमा आत्माको देनेसे कोई हानि नहीं है। " **छिपकर रहनेका भाव** " ही दोनों स्थानपर विशेषतया देखना है। सब इंद्रियोंकी शक्तियोंका आकर्षण करनेवाला यह " **कृष्ण** " किंवा " **संकर्षण,** " गौवों (इंद्रियों) का पालन करनेवाला यह " **गोपाल,** " गौवो के साथ पर्वतकी गुहामें छिपकर रहनेवाला यह मायाविहारी " **गोपनाथ,** " पशुओंकी पालना करनेवाला यह " **पशुपति,** " एकही है। इन सब विविध रूपकों और अलंकारोंमें एक ही आत्मतत्वका वर्णन होता है। इसीको " चोर—जार—कपटनाटकी " भी कहा जाता है ! ! यद्यपि ये शब्द बाह्य अर्थमें निंदाव्यंजक हैं, तथापि इसका गुप्त अर्थ बुरा नहीं है। रुद्रके वर्णन में " **तस्कर, स्तेन, स्तेनानां पतिः** " ये "चोर" वाचक शब्द रुद्र देवताके लिये आये है, रुद्र पशुपति है अर्थात् पशुपति ही तस्कर है। इसका तात्पर्य इतनाही है कि, ये शब्द किसी एक आशयके साथ मंत्रोंमें देखने होते हैं।

अर्थात् "चोर के समान छिपकर रहनेवाला आत्मदेव है।" इसमें "गुप्त रहना" ही देखना है, चोर का दूसरा भाव देखना नहीं है। अब इस आत्माकी खोज कैसी करनी है, देखिये। एक विचारसे एक निष्ठासे अनुष्ठान करनेका निश्चय करना चाहिये। उसके जो पद अर्थात् चिन्ह इंद्रियों और अवयवों में दिखाई देते है, उनको देखते हुए उसका मार्ग ढूंढना चाहिये। इन पदोंपर अपना कदम रखकर जायेंगे, तो संभवतः उसके मूल स्थान—गुहामें—पहुंच सकते है और वहां उसका पता लगा सकते है। वह जिस गुहामें छिपकर बैठा है, उसके पता लगानेका यही एक उपाय है। इसके गुहानिवासी होनेके विषय में और एक मंत्र देखिये—

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद्गुहा निषीदन्॥ विदन्तीमत्र नरो धियं धा हृदा यत्तष्टान्मंत्राँ अशंसन्॥ ऋ. १।६७।२

"(विश्वानि नृम्णानि) सब सुखोंको (हस्ते दधानः) अपने हाथमें धारण करनेवाला, (गुहा निषीदन्) अपनी अंतःकरणकी गुहामें बैठनेवाला, (देवान् अमे धात्) सब देवोंको अर्थात् इंद्रियोंको जीवनमें धारण करता है। (धियं—धाः नरः) बुद्धिको धारण करनेवाले नर (अत्र) इस गुहामें ही (ईं विदंति) इसको जानते हैं (यत्) जिस समय (हृदा तष्टान् मंत्रान्) हृदयसे निकले हुए सुविचारोंको (अशंसन्) कहते है।"

जिस समय हृदयमें भक्तिके भाव चलने लगते है और दिलमें

सच्ची भक्ति होती है, उसी समय ज्ञानी मनुष्य इसको हृदय कंदरा-मेंही प्राप्त करते हैं। यह वहां हृदयमें बैठा हुआ, सब सुखोंको अपने पास रख कर, सब इंद्रियोंमें जीवनका प्रवाह चलाता है। पाठक इस वर्णनसे जान सकते है कि, इस मंत्रमें जिस अग्निका वर्णन है, वह अग्नि कौन है? निःसंदेह चूल्हेमें जलनेवाली आग इस मंत्रमें अभिप्रेत नहीं है। मनुष्यके हृदयमें जो आत्माग्नि है, वही यहां वर्णित है। यही (१) सब सुखोंको अपनेमें धारण करता है, (२) इंद्रियोंमें जीवनका प्रवाह चलाता है, और (३) भक्तिकी भावनासे आनंदित होकर यही ज्ञानियोंको प्राप्त होता है। और देखिये—

य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य ॥
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद्वसूनि प्रववाचास्मे ॥

ऋ. १।६७।४

"(यः) जो ज्ञानी (गुहा भवन्तं) हृदयकंदरामें रहनेवाले (ईं) इसको (चिकेत) जानता है, (यः) वह मानो (ऋतस्य धारां) सत्यके स्रोतको (आससाद) प्राप्त करता है। (ये च ऋतानि सपन्तः) जो सत्यका आश्रय करनेवाले पुरुष है, जो सत्याग्रही है, वे (आत् इत्) निश्चयसे (अस्मै) इसके लियेही (वसूनि प्रववाच) धन हैं, ऐसा कहते हैं। अर्थात् सब धन इसीका है, ऐसा कहकर इसीको अपना सर्वस्व अर्पण करते हैं।"

हृदयमें जहां यह आत्माग्नि रहता है, वहांसे ही सत्यका स्रोत चलता है और इसीलिये जो सत्यके ऊपर स्थिर रहनेवाले होते हैं,

वे ही इसको प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार नदीके प्रवाहके साथ उलटा जानेसे नदीके उगम स्थानतक पहुंच सकते है, उसी प्रकार सत्यकी नदी इससे शुरू होती है, इसलिये जो सत्यका आश्रय करते है, वे इसके पास पहुंचते हैं, क्यों कि इसके पास सत्य है और इससे दूर असत्य है। इसके पास जितना जितना जाय, उतना उतना सत्य अधिक होता है और जितना इससे विमुख होता है, उतना असत्य पास आने लगता है। इसी कारणही कहते है कि असत्य छोडकर सत्यको पास करनेसे देवत्व प्राप्त होता है। अस्तु इस रीतिसे इन मंत्रोंका विचार करनेपर निश्चय होता है कि, यह गुहानिवासी अग्नि आत्माही है। और देखिये—

गुहा चरन्तं सखिभिः शिवेभिः ॥ ऋ. ३।१।९

"शुभ मित्रोंके साथ गुहामें संचार करनेवाला" यह अग्नि है। यहभी आत्माग्निकाही रूपक है। आत्माग्निके शुभ मित्र संपूर्ण इंद्रिय शक्तियांही है। क्यों कि ये शक्तियां इसक साथ आतीं है, इसके साथ रहतीं है और इसके जानेके समय इसके साथ चलीं जातीं है। अर्थात् मित्रवत् इनका वर्ताव होता है। कई समझते है कि, इसका ज्ञान प्राप्त होना कठिन है, परंतु वेद कहता है कि यह बात सुगम है, देखिये—

चित्रं संतं गुहाहितं सुवेदं ॥ ऋ. ४।७।६

"यह गुहानिवासी बडा विलक्षण है, परंतु यह (सु-वेदं) उत्तम प्रकारसे अथवा सुगमतासे जानने योग्य है।" इन मंत्रोंके विचारसे अग्निका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह विचार यहांही

समाप्त करके और एक रीतिसे विचार करेंगे। सहचारी देवोंके विचारसे इसका विचार अब करना है।

(५१) अग्निके साथी अनेक देव।

अग्निके साथी जो अनेक देव है, उनकी संख्याका उल्लेख निम्न मंत्रमें किया है, इसलिये वह मंत्र देखिये—

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चा-सपर्यन्॥ ऋ. ३।९।९

"तीन सहस्र, तीन सौ, तीस और नौ देव इस अग्निकी (सपर्यन्) सेवा करते है।" इस मंत्रमें अग्निदेवकी पूजा अथवा सेवा करनेवाले देवोंकी संख्या कही है। जहां अग्निदेव जाता है, वहां उसके साथ ये भी देव जाते हैं, य देव उसके रथपरसे जाते है और अग्निके साथ उसके रथपर बैठकर ही आते है, देखिये इसका वर्णन—

एभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः॥ पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व॥ ऋ. ३।६।९

" हे अग्ने! आपके अश्व (वि—भवः) प्रभावशाली हैं, इस लिये (एभिः) इन सब देवोंके साथ (स—रथं) एक ही रथ परसे अथवा (नाना—रथ) अनेक रथोंके ऊपर (आ याहि) आओ। पत्नियोंके साथ तीस और तीन देवोंको बल के लिये यहां ले आओ और आनंदित रखो।"

इस मंत्रमें ३३ देवोंका संबंध अग्निके साथ बतलाया है। पूर्व मंत्रमें ३३३९ देवोंका संबंध वर्णन किया है।
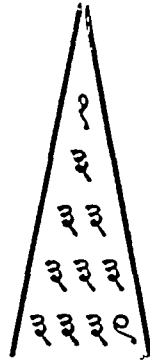
यह देवोंकी संख्या विशेष महत्व रखती है। उक्त संख्या बढनेका क्रम ३३ करोड तक है। स्थान स्थानमें इस संख्याका वर्णन ब्राह्मणोंमें आता है। एक मुख्य देव है, जिसको आत्मदेव कहते है। उसके साथ अनेक अन्य देवताएं हैं। अन्य देवतायें प्राकृतिक शक्तियां है और एक देव आत्मा है। आत्मा और प्रकृति, पुरुष और प्रकृति, आदि शब्द इस भेदका वर्णन कर रहे हैं। आत्माकी शक्तियां प्रकृतिमें जाकर सूर्य चंद्र, नक्षत्र, अग्नि, वायु, जल आदि अनेक देव बने है। इसका क्रम निम्न प्रकार है—

१ एक देव—आत्मा,

२ दो देव—आत्मा और प्रकृति, पुरुष और प्रकृति, इत्यादि,

३ तीन देव—पृथ्वीस्थानपर अग्नि, अंतरिक्ष स्थानपर विद्युत, और द्यु स्थानमें सूर्य। त्रिमूर्ति।

३३ तेत्तीस देव—११ पृथ्वीपर, ११ अंतरिक्षमें, ११ द्युलोकमें।

इन्हींके विभाग ३३३९ और इसी क्रमसे इससेभी अधिक हुए हैं। इसका चित्र निम्न प्रकार बन सकता है—
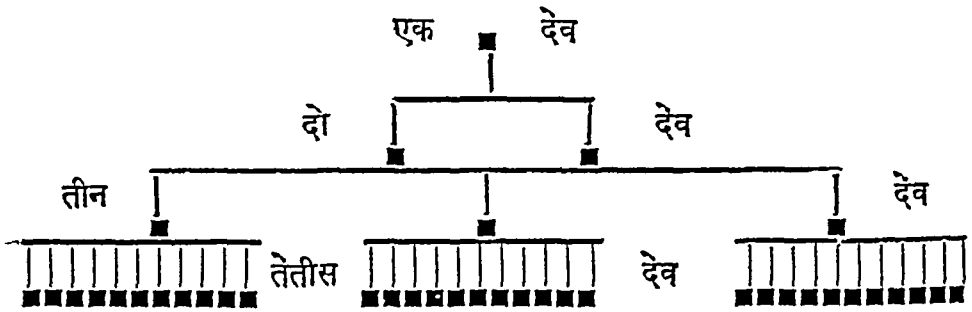
इस प्रकार प्रत्येकके और भेद होनेसे अनेक देव हो जाते हैं। ये सब " **अनेक विभिन्न देव** " है। ये विभिन्न देव " **एक अभिन्न देव** " के साथी है।

(१) **एक अभिन्न देव** (**आत्मा**) = आत्मा
(२) **अनेक विभिन्न देव** (**अनात्मा**) = देवतायें

यह कल्पना ठीक प्रकार ध्यानमें आगई, तो वेदके बहुतसे मंत्रों के वर्णन सुगमतया ध्यानमें आ सकते हैं। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस कल्पना को ध्यानमें लानेका यत्न करें।

अनेक विभिन्न देवोंमें एक अभिन्न देवकी शक्ति कार्य करती है, इसलिये एक अभिन्न देव श्रेष्ठ और अनेक विभिन्न देव गौण हैं। पूर्वोक्त मंत्रमें एक अग्निदेवके साथी ३३३९ अथवा ३३ होनेका वर्णन है। इसका भाव इसी प्रकार समझना चाहिये। इस समयतक के वर्णन से पाठकोंके मनमें यह बात आगई होगी, कि इन मंत्रोंमें जो अग्नि शब्दसे वर्णन हो रहा है, वह मुख्यतया "आत्माग्नि"का ही वर्णन है। इस आत्माग्निके साथ तीन, तेत्तीस अथवा इसी प्रमाणसे अधिक देवतायें आतीं है, रहतीं हैं और जातीं

हैं। इन सबका आना और रहना इस शरीरमें होता है, इस विषयमें पूर्व स्थलमें बहुत वार कह दिया है। अस्तु, इस प्रकार अग्निदेवके वर्णनसे मुख्यतया आत्माका वर्णन होता है। और इसकी सूचनाएं पूर्वोक्त प्रकार स्थान स्थानके सूक्तोंमें वर्णन की गई है। अब अग्निदेवके वर्णनमें " सप्त " अर्थात् " सात " संख्याका विशेष महत्व है, इसका विचार करके निश्चय करना है कि यह किस बातका वर्णन है--

(५२) " सात " संख्या का महत्व।

वैदिक तथा लौकिक सारस्वतमें अग्निके वर्णनमें " **सप्त-हस्त** " " **सप्त-जिह्व** " आदि शब्द आते है। (१) सात हाथोंसे युक्त (२) सात जिह्वाओंसे युक्त यह उन शब्दोंका भाव है। देखिये--

सप्तहस्तश्चतुःशृंगः सप्तजिह्वो द्विशीर्षकः ॥
त्रिपात्प्रसन्नवदनः सुखासीनः शुचिस्मितः ॥
स्वाहां तु दक्षिणे पार्श्वे देवीं वामे स्वधां तथा ॥
बिभ्रद्दक्षिणहस्तैस्तु शक्तिमन्नं स्रुचं स्रुवम् ॥
तोमरं व्यजनं वामैर्घृतपात्रं तु धारयन् ॥
आत्माभिमुखमासीन एवं रूपो हुताशनः ॥

हुताशन अग्निका यह वर्णन सुप्रसिद्ध है। इसमें " सप्त हस्त, सप्त जिह्व " शब्द है। यह पौराणिक वर्णन जिस वेदमंत्रके आधार पर रचा गया है, वह मंत्रभी यहां देखिये—

(५३) सात हाथ।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो

अस्य ॥ त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश ॥ ऋ. ४।५८।३

इस अग्नि देवताके मंत्रका आशय भगवान् पतंजलि मुनिने शब्द-विषयक लिया है, और बताया है कि, यहांके " सप्त हस्त " शब्दका भाव सात विभक्तियां है। इस मंत्रका शब्दविषयक यह एक अर्थ है। परंतु इसके अनेक अर्थ हैं, क्यों कि यह " कूट मंत्र " है, इसका विशेष स्पष्टीकरण " **तर्कसे वेदका अर्थ** " इस पुस्तकके अंदर " **भाष्यकारोंका मतभेद** " इस शीर्षक के लेखमें विशेष रूपसे दिया है। पाठक वह लेख इस प्रकरणमें अवश्य अवलोकन करें। इस कूट मंत्रके अनेक अर्थ होनेका कारण वहां ही स्पष्ट कर दिया है। इसके अध्यात्म परक अर्थ केवल आत्माके विषय मेंही होते है, प्रायः सब भाष्यकार इसको मानते है। आरण्यकादिकों में यह प्रणव अर्थात् ओंकार पर मंत्र घटाया है। इससे स्पष्ट है कि, आत्मा पर इसका अर्थ होनेके प्रसंगमें इस मंत्रका " **सप्त हस्त** " शब्द आत्माकी सात शक्तियों काही वाचक होगा। यही बात " **सप्त जिह्वा** " शब्दके विषयमें समझनी चाहिये। यहां सूचना मिलती है कि, आत्माकी सात शक्तियां है, जो " **सात हाथ** " अथवा " **सात जिह्वाएं** " शब्दोद्वारा वर्णन की गई है, यही बात निम्न मंत्रमें देखिये—

(५४) सात जिह्वाएं।

दिवश्चिदग्ने महिना पृथिव्या
वच्यन्तां ते वह्नयः सप्तजिह्वाः ॥ ऋ. ३।६।२

“ हे अग्ने ! (महिना) अपनी महिमासे पृथिवीमें और द्युलोकमें वह्निरूप तेरी सात जिव्हाएं (वच्यन्तां) घोषणा करें । ” इसमें अग्निकी सात जिव्हाओंका वर्णन है । इन सात जिव्हाओंसे अग्नि तीनों लोकोंमें घोषणा कर रहा है । प्रत्येक जिव्हाकी अलग अलग घोषणा हो रही है । एक जिह्वाकी घोषणा दूसरी जिह्वाकी घोषणासे भिन्न है, यह बात यहां ध्यानमें धरने योग्य है । इस मंत्रमें सात जिह्वाओंका स्वरूप (वह्नयः सप्तजिह्वाः) वह्निरूप है ऐसा स्पष्ट कहा है । वह्नि शब्द जैसा अग्निवाचक है, उसी प्रकार “ वाहक ” अर्थमेंभी प्रसिद्ध है । अर्थात् ये सात जिह्वाएं वाहक है । वाहक होनेके कारण यहां प्रश्न हो सकता है कि, ये किस पदार्थको लाती है ? इसका उत्तर निम्न मंत्रमें देखिये—

(५५) सात नदियां ।

अवर्धयत्सुभगं सप्त यह्वीः श्वेतं जज्ञानमरुषं महित्वा ॥ शिशुं न जातमभ्यारुरश्वा देवासो अग्निं जनिमन्वपुष्यन् ॥ ऋ. ३।१।४

“ जिस प्रकार (अश्वाः शिशुं जातं अभ्यारुः न) घोडियां नूतन उत्पन्न बच्चेके चारों ओर रहती है, उसी प्रकार यह (सप्त यह्वीः) सात नदियां उस (सुभगं) उत्तम भाग्यशालीको (अवर्धयत्) बढाती है कि जो (जज्ञानं श्वेतं) उत्पत्तिके समय श्वेत था, परंतु पश्चात् (महित्वा) अपने महत्वसे (अरुषं) लाल बन गया । इस प्रकारके अग्निके जन्म की देव पुष्टि करते है । ”

इस मंत्रमें निम्न लिखित बातें है कि, जो अग्निका स्वरूप तथा सप्त नदियोंकी कल्पनाका तत्व विशद कर रही है—

(१) बछडेको बीचमें रखकर जिस प्रकार घोडिया अथव
मातापं चारों ओर बैठतीं हैं;

(२) उस प्रकार इस अग्निको बीचमें रख कर उसके चारो
ओर ये सात नदियां प्रवाहित होतीं है ।

(३) अपने प्रवाहके साथ ये सातों नदियां भाग्यशाली इस
अग्निको बढातीं हैं;

(४) यह अग्नि आरंभ में श्वेत था, परंतु पश्चात् लाल
हो गया है ।

(५) इस अग्निकी पुष्टि देवोंने भी की है ।

अग्निको बीचमें रखकर उस मध्यस्थानसे चारों ओर अथवा सातों ओर सात नदियां बह रहीं है, अर्थात् सात नदियोंके उगमस्थानमें यह अग्नि है । कौनसे एक स्थानसे सात नदियां बह रहीं है? और कौनसी नदीके उगमस्थानमें प्रतापी अग्नि रहता है? बहुतसे विद्वान् कहते है कि, वेदमें वर्णित सात नदिया पंजाब में है, कई कहते हैं कि, मध्य एशिया में है, कई कहते है कि उत्तर ध्रुव के पास है । परंतु स्थानस्थानमें प्रयत्नपूर्वक देखनेपर एक स्थानपर उगम होने वालीं सात नदियां कहीं भी दिखाई नहीं देतीं; और जो थोडी हैं, उनके उगमस्थानमें ऐसा कोई अग्नि नहीं है । चूं कि यह वर्णन पृथ्वीपर का नहीं है, इस लिये जो विद्वान् इसको इस भूमिपर देखनेका यत्न करते है, वे फलीभूत नहीं होते ! ! इसका स्वरूप देखना है तो निम्न मंत्र देखिये—

(५६) सप्त ऋषि और सप्त नद।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सद-मप्रमादम् ॥ सप्ताप: स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ वा. य. ३४।५५

" प्रत्येक (शरीरे) शरीरमें (सप्त ऋषयः) सात ऋषि (हिताः) रहते है। ये सात इस (सदं) घरका रक्षण करते है। ये (सप्त आपः) जल के सात प्रवाह (स्वपतः) सोनेवाले आत्माके (लोकं ईयुः) स्थानको पहुंचते है। इस (सत्र–सदौ) यज्ञमें जागनेवाले और (अ–स्वप्न–जौ) कभी न सोनेवाले (देवौ) दो देव है। "

इस मंत्रमें कई गूढ तत्वोंका स्पष्टीकरण किया है, उसका आशय निम्न प्रकार है—

(१) प्रत्येक शरीरमें सात ऋषि रहते है।

(२) इस शरीरका संरक्षण ये सप्त ऋषि कर रहे है।

(३) सात जलप्रवाह (सात नादियां) भी इसी शरीरमें है जो सुषुप्तिकी अवस्थामें आत्माके स्थानको वापस जाते है। अर्थात् जागृतिकी अवस्थामें ये सात नदियां आत्मासे चलकर बाहिर जगत् में फैलतीं है।

(४) मनुष्य जीवन एक सत्र अर्थात् शतसांवत्सरिक महायज्ञ है। इसीमें ये सप्त ऋषि यज्ञ कर रहे है। सप्त नादियोंके किनारे पर इनका यज्ञ चल रहा है। ये सात ऋषि कुछ काल सोते है और कुछ काल जागते है।

(५) सोनेके समय इन सप्त नदियोंका प्रवाह उलटा होता है, और इस समय ये नदिया अंतर्मुख होतीं है। तथा जागनेके समय इनका प्रवाह बहिर्मुख होता है।

(६) इस सत्रमें दो देव खडे पहरा दे रहे है, जो कभी सोते नहीं। सदैव इसके संरक्षण करनेमें ये दक्ष रहते है।

इस वर्णनसे स्पष्ट पता लग जाता है कि यह सप्त नदियोंका वर्णन आत्माग्निपर ही विशेष रूपसे घट सकता है।

सप्त नद।

आत्माग्नि मध्यमें है और इस उगमस्थानसे अहंकार, मन, श्रोत्र, स्पर्श, नेत्र, रसना और नासिका ये सात प्रवाह चलते है। (१) अहंकारकी नदी घमंडके क्षेत्रमें वह रही है (२) मनका नद मनन के प्रदेशको भिगो रहा है, (३) श्रोत्रकी नदी कानोंके द्वारा प्रवाहित होकर शब्दकी भूमिमें वह रही है, (४) स्पर्शकी नदी चर्म मार्गसे स्पर्शके प्रदेशमें फैल रही है, (५) नेत्रकी नदी दृष्टिके

मार्गसे दर्शनक्षेत्रमें प्रवाहित हो रही है, (६) रसना नदी रुचिके क्षेत्रमें जिह्वाके स्थानसे व्याप्त हो रही है, इसी प्रकार (७) नासिका द्वारा सुवासके क्षेत्रमें नासा नदी बह रही है। प्रत्येक नदीका क्षेत्र भिन्न है, प्रत्येक नदीका जलभी भिन्न है और प्रत्येक नदीका स्वभावभी भिन्न है। ये सप्त नदियां हैं, जो कि आत्माके स्थानसे बह रहीं है। सुषुप्तिकी अवस्थामें ये सातों नदियां अंतर्मुख होकर उलटी बहने लग जातीं है और आत्मामें मग्न होती है; परंतु जागृतिमें आत्मासे बहिर्मुख होकर फिर बाहिर प्रवाहित होकर जगत्में कार्य करने लग जातीं है।

प्रतिदिन इन सातों नदियोंका यह प्रवाह हरएकके अनुभवमें आता है। इनका प्रवाह उलटा चलनेकाही नाम सुषुप्ति और इनका प्रवाह बाहिरकी ओर बहनेकाही नाम जागृति है।

प्रत्येक नदीके तटपर एक एक अधिष्ठाता ऋषि है, जो वहां तप कर रहा है। ये सात ऋषि इस जीवनरूपी महायज्ञमे यजन कर रहे है। जिस समय ये सातों अधिष्ठाता ऋषिगण थक कर सो जाते है, उस समय तथा अन्य समयमें भी इस देहरूपी सत्रमे दो देव जागते है!! इन देवोंका नाम प्राण अर्थात् श्वास और उच्छ्वास है। जन्मसे मरनेतक ये श्वासोच्छ्वासरूपी दो देव जागते हैं और खडे पहरा करते है, इनके कारणही इस सत्र अर्थात् देहरूपी यज्ञभूमिका संरक्षण हो रहा है।

पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा किं, यह वर्णन हमारे देहका ही है और इसीमें (१) सात ऋषि, (२) सात नदिया, और (३) जलके सात प्रवाह अपना अपना कार्य कर रहे हैं।

अब पूर्वोक्त मंत्रका अनुसंधान कीजिये, तो पता लग जायगा कि आत्माग्निको मध्यमें रख कर सात नदियां चारों ओर फैल रहीं है, इसका तात्पर्य क्या है? नदियोंके उगमस्थानमें कौनसा अग्नि है। उससे कौनसे प्रवाह किस भूमिमें फैलते हैं, और समयपर वापस भी किस रीतिसे होते है।

यह आत्माग्नि प्रारंभमें श्वेत और पश्चात् रक्तवर्ण होता है। यह भी स्पष्ट है। श्वेतवर्ण सत्वगुण और रक्तवर्ण रजोगुण का द्योतक है। प्रथमतः आत्मबुद्धिमें सात्विक भाव होते है, परंतु जब वे भाव भोगोंके साथ परिणत होते है, तब रजोगुणमय होते है। इत्यादि विषय अब पूर्णतासे स्पष्ट हो सकता है।

(१) ये ही आत्माग्निके सात हाथ है, जिनसे वह कार्य करता है।
(२) ये ही आत्माग्निकी सात जिह्वाएं हैं, जिनसे वह आत्माकी घोषणा करता है, अथवा जगत् की रुचि लेता है।
(३) ये ही सात नदियां है, जो अपने अपने क्षेत्रमें वहतीं हैं।
(४) ये ही सात जलप्रवाह है, जिनपर सात ऋषि तपस्या कर रहे है।
(५) ये ही सप्त ऋषि है, जो सात प्रकारका ज्ञान दे रहे है, और शरीरका अर्थात् ऋषि—आश्रमका संरक्षण कर रहे है।
(६) ये ही ऋषि—आश्रम है जिनपर रोगरूपी राक्षस वारंवार हमला करते है और इस शतसांवत्सरिक सत्रका विध्वंस करते है। जिनका कि दो देव रक्षण कर रहे है।
(७) ये ही सप्तरश्मि है जो आत्मारूपी सूर्य के सात किरण हैं इस विषयमे निम्न मंत्र देखिये—

(५७) सात किरण।

आ यस्मिन्त्सप्त रश्मयस्तता यज्ञस्य नेतरि ॥
मनुष्वद्दैव्यमष्टमं पोता विश्वं तदिन्वति ॥

ऋ. २।५।२

(यस्मिन् यज्ञस्य नेतरि) जिस यज्ञ के नेताके अंदर (सप्त रश्मयः) सात किरण अथवा सात लगाम (तताः) तने हुए हैं। वह यज्ञका नेता (पोता) पवित्र कर्ता आत्मा (मनुष्-वत्) मनुष्य युक्त (दैव्यं विश्वं) देवतामय विश्वको अष्टम होकर (इन्वति) प्राप्त करता है।

" यज्ञका नेता " आत्माही है, जो इस शरीररूपी यज्ञमंडपमें इस शतसांवत्सारिक महायज्ञ को चलाता है। इसी आत्माके पूर्वोक्त सात किरण इस देहरूपी यज्ञमंडपमें प्रकाशित हो रहे हैं। यह सूर्यचंद्रादि देवतामय विश्व जो मनुष्यप्राणियोंके कारण विशेष रूपसे प्रसिद्ध है, उसको अष्टम अर्थात् आठवां मान कर यही प्राप्त करता है। सात इंद्रियशक्तियां, आठवा देवतामय विश्व और उसको प्राप्त करनेवाला स्वयं यजमान आत्मा है। यह मंत्र भी आत्माग्निकाही वर्णन कर रहा है।

इस मंत्रका मनन करनेसे पता लग सकता है कि, वेदमें जो सप्त रश्मि, सप्त किरण, आदि वर्णन है, वह केवल सूर्यप्रकाशके ही सात किरणोंका वर्णन नहीं है, प्रत्युत आत्माकी सात शक्तियों का वह मुख्य वर्णन है और गौणवृत्तिसे अन्य भाव को भी व्यक्त करता

है। वेदमें केवल सप्तरश्मियोंकाही वर्णन नहीं है, प्रत्युत यह सप्त संख्या अनेकवार विविध प्रकारके वर्णनमें आई है देखिये—

(५८) सप्त रत्न।

दमे दमे सप्त रत्ना दधानोऽग्निर्होता निषसादा यजीयान् ॥ ऋ. ५।१।५

"घरघरमें सात प्रकारके रत्नोंको धारण करनेवाला अग्नि यज्ञ करता हुआ बैठा है।" इस मंत्रमें सात रत्नोंको धारण करनेवाला अग्नि यही आत्माग्नि है, और उनके सात रत्न पूर्वोक्त सात शक्तियांही है। "दमे दमे" का अर्थ प्रत्येक घरमें अर्थात् प्रत्येक शरीरमें है, क्योंकि शरीरही आत्माका घर है। रत्न शब्दका अर्थ रमणीय है। उक्त सात इंद्रियां ज्ञान देनेके कारण आत्माको रममाण करती है; इसलिये रत्न शब्दका मूल धात्वर्थ भी यहां संगत होता है। जो सप्त रत्न हैं, वेही "सप्तधातु" हैं। इनका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिये—

(५९) सप्त धातु।

बृहद्वयाथ धृषता गभीरं यह्वं पृष्ठं प्रयसा सप्त धातु ॥ ऋ. ४।५।६

"(धृषता प्रयसा) वीर्ययुक्त प्रयत्न के साथ रहनेवाला गंभीर (पृष्ठं) प्रशंसनीय महान् (सप्त धातु) सप्तधातुरूप धन दो।"

आत्माकी उक्त सात शक्तियां ही शरीरमें मुख्य धन है। इनमें एकाध शक्ति न होनेसे अन्य धन उतने उपयोगी नहीं हो सकते।

इसीलिये वेदमें इन सात शक्तियों को ही मुख्य धन कहा है। इस विषयका और एक अलंकार देखिये—

(६०) सात घोडे।

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितं
हविष्मंत ईळते सप्तवाजिनम् ॥ ऋ. १०।१२२।४

" यज्ञका केतु, पहिला पुरोहित (सप्त-वाजिनं) सात घोडोंसे युक्त है, उसीकी प्रशंसा करते है।" इस मंत्रमें "**सप्तवाजी**" शब्द है। "वाज" शब्दका अर्थ बल है और "वाजी" शब्दका अर्थ घोडा है। "सप्तवाजी" शब्दका अर्थ सात प्रकारके बलोंसे युक्त, अथवा सात घोडोंसे युक्त है। पूर्व वर्णन के साथ विचार करनेपर पता लग जायगा कि, ये "सात घोडे" कौनसे हैं। इस अग्निके रथको येही सात घोडे जोते है। सूर्यके रथको जो सात घोडे जोते हैं वेभी येही हैं। सात ऋषि, सात किरण, सात घोडे, सात नदियां, सात प्रवाह, सात रत्न, सात धातु ये सर्व भिन्न नाम पूर्वोक्त सात शक्तियों के ही वाचक है। येही अग्निकी सात बहिनें हैं—

(६१) सात बहिनें।

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानो विद्वान् मध्व
उज्जभारा दृशे कम् ॥ अंतर्येमे अंतरिक्षे
पुराजा इच्छन् वव्रिमविदत् पूषणस्य ॥
ऋ. १०।५।५

"(वावशानः) इच्छा करनेवाला विद्वान् (अरुषीः) गमनशील (सप्त स्वसॄः) सात बहिनों को (मध्वः) मीठेपनका (कं दृशे) सुख देखनेके लिये (उत् जभार) ऊपर उठाता है। यह (पुरा जाः) पुराण पुरुष (पूणषस्य वव्रिं) पूषाके रूपकी इच्छा करता हुआ अंतरिक्षमें (अंतः येमे) अंदरसे नियमन करता है और (अविदत्) प्राप्त करता है।"

इस मंत्रमें " सात बहिनों " का वर्णन हैं। एक मूलस्थानसे जो सात शक्तियां उत्पन्न होतीं है, उनको सात बहिने कहा है। एक मातासे भाई बहिनोंकी उत्पत्ति होती है। यहां भी परमात्मा परम पिता और प्रकृति परम माता है। वहांसे ही पूर्वोक्त सातों शक्तियोंकी उत्पत्ति है, इसलिये परमात्माका अमृत पुत्र आत्मा है और पूर्वोक्त सातों शक्तियां उसकी बहिनें है। अलंकार इसी रीतिसे स्पष्ट हो जाता है। ये ही सात हवन करनेवाले ऋत्विज है, इसका वर्णन देखिये—

(६२) सात ऋत्विज्

सप्त होतारस्तमिदीळते त्वाग्ने ॥

ऋ. ८।६०।१६

"हे अग्ने ! (सप्त होतारः) सात ऋत्विज तेरी ही स्तुति करते हैं।" " होता " उसको कहते है कि जो हवन करता है। यहां आत्माग्निमें पूर्वोक्त सात इंद्रियां हवन कर रहीं हैं। नेत्र रूपका हवन करता है, कान शब्दोंका हवन करता है। इसी प्रकार अन्यान्य ज्ञानेंद्रियां अन्यान्य ज्ञानोंकी आहुतियां आत्मातक पहुंचाती है, मानो, आत्माके हवनकुंडमें ये सात इंद्रियगणरूपी ऋत्विज अपने अपने विषयकी

आहुतियां ही डाल रहे हैं और इस प्रकारका यह हवन इस यज्ञ-मंडपमें सौ वर्षतक चलना है। शतसांवत्सरिक यज्ञ यही है। इसके ये होता गण है। ये ही ऋत्विज सप्त ऋषि नामसे अन्य स्थानमें कहे गये है। सप्त ऋषि, सप्त होता, सप्त ऋत्विजः, सप्त मानुषः, आदि शब्द यही भाव बता रहे है। इसके साथ अब निम्न मंत्र अवश्य देखिये—

(६३) पांच और दो दोहनकर्ता।

दुहन्ति सप्तैकामुप द्वा पंच सृजतः॥
तीर्थे सिंधोरधि स्वरे॥ ऋ. ८।७२।७

"(एकां) एक गौ माताका (सप्त दुहन्ति) सात दोहन कर रहे है। उनमें (द्वौ) दो (पंच) अन्य पांचोंको (उप सृजतः) प्रेरित करते है। (अधि स्वरे) स्वरयुक्त सिंधुके तीर्थ पर यह हो रहा है।"

एक गौका सात ग्वालियों द्वारा दोहन निःसंदेह आलंकारिक है। इसमें भी दो गवालिये अन्य पाच को प्रेरणा करनेवाले है। यह सब बात अपना पूर्वोक्त अलंकार स्वीकार करनेपर ठीक प्रकारसे ध्यानमें आ सकती है। पूर्वोक्त सातोंमें (१) मन तथा (२) अहंकार ये दो अन्य इंद्रियशक्तियोंके प्रेरक हैं; (१) श्रोत्र, (२) त्वक्, (३) चक्षु, (४) रसना और (५) घ्राण ये पांच उन दोनों द्वारा प्रेरित होकर अपना अपना दोहन का कार्य कर रहे है। आत्मा-रूपी एक गौ से ये सात गवालिये अपनेलिये अलग अलग प्रकारका दूध निचोड रहे है, और एक ही वह गाय इनमेंसे प्रत्येक को भिन्न प्रकारका दूध दे रही है!!!

अब विचार कीजिये, वेदमें एक ही बात कितने भिन्न अलंकारोंसे वर्णन की है । " सात " संख्याका अलंकार अग्निके विषयमें इतना ही नहीं है, प्रत्युत बहुत ही प्रकारका है; यहां केवल नमूनेके लिये थोडेसे ही उदाहरण दिये हैं । पाठक विचार करके इन उदाहरणोंके मननसे अन्य अलंकारोंको भी जान सकते हैं ।

तात्पर्य इन सब विभिन्न अलंकारोंके वर्णनसे वेदको एक आत्मा का ही वर्णन करना है । उसके जितने पहलू हो सकते हैं, उन सब पहलुओंके द्वारा विभिन्न अलंकारोंमें वेद वर्णन करता है । इस लिये पाठकोंको उचित है कि, वे सबसे प्रथम इस वैदिक शैलीको देखकर वेदमंत्रोंका मनन करें और वेदके गंभीर आशयको समझनेका यत्न करें । एक समय वेदकी मूलभूत कल्पना ठीक प्रकार ध्यानमें आगई तो पश्चात् वेदका कोई भी वर्णन समझनेमें कठिनता नहीं रहेगी ।

(६४) तनूनपात् अग्नि ।

अब " **तनूनपात्** " शब्दका विचार करेंगे । यह शब्द अग्निका वाचक है । इसका अर्थ (तनू+न+पात्) शरीरोंको न गिरानेवाला होता है । जिसके रहनेसे शरीरोंका पतन नहीं होता और जिसके न होनेसे शरीरोंका पतन होता है । पाठकोंके ध्यानमें यह बात आ गई होगी कि, यहां स्थूल सूक्ष्म कारण नामक शरीरोंको धारण करने-वाला और उन शरीरोंपर कार्य करनेवाला आत्माही है । इसलिये " **तनू–न–पात्** " अग्नि निःसंदेह " आत्माऽग्नि " है । इस समय-तक अग्निवाचक मंत्रोंका जो विचार किया गया है, उसके साथ यह अर्थ कितना ठीक सजता है इसकी सत्यता पाठक यहां अवश्य

देखें और वेदमें अग्निशब्दसे आत्माग्निका भाव ही मुख्यतः लेना है, यह बात यहां ठीक समझनेका यत्न करें। क्यों कि यह शब्द मुख्यतः इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। गौणवृत्तिसे इसके तथा अन्य शब्दोंके भाव विविध होनेपर भी मुख्य अर्थको भूलना कदापि उचित नहीं है। यह " तनू-न-पात् " शब्द निम्न मंत्रमें देखिये—

मधुमंतं तनूनपाद्यज्ञं देवेषु नः कवे ॥
अद्या कृणुहि वीतये ॥ ऋ. १।१३।२

" हे (तनू-न-पात्) शरीरोंको न गिरानेवाले (कवे) शब्दके प्रेरक अग्ने ! तू मधुयुक्त यज्ञ आज ही देवोंके अंदर (वीतये) रक्षण के लिये (कृणुहि) कर। "

देवोंके अंदर " **शरीरोंको न गिरानेवाले आत्माग्नि** " द्वारा होनेवाले इस शतसांवत्सरिक महायज्ञका वर्णन ही विभिन्न रूपसे स्थान स्थानपर है। यह बात इस समयतक अनेक मंत्रोंके उदाहरणोंसे पूर्व स्थलमें बताई गई है। वही बात इस मंत्रमें " तनू-न-पात् " देवताके मिषसे वर्णन की गई है।

यह तनूनपात् शब्द अग्निदेवका वास्तविक स्वरूप व्यक्त कर रहा है। जितने दिन यह " तनू+न+पात् " आत्माग्नि इस शरीरमें निवास करता है, उतने दिन ही यह शरीर सचेतन रहता है और जीवित रहता है। इसके चले जानेके पश्चात् इस शरीरका ऐसा पतन होता है कि, कोई इसको पास रखना नहीं चाहते। इससे स्पष्ट होता है कि यही आत्माग्नि तनू को न गिरानेवाला " तनू-न-पात् " अग्नि है। इस तनूनपात् आत्माग्निका शरीरमें अवस्थान निम्न प्रकार है—
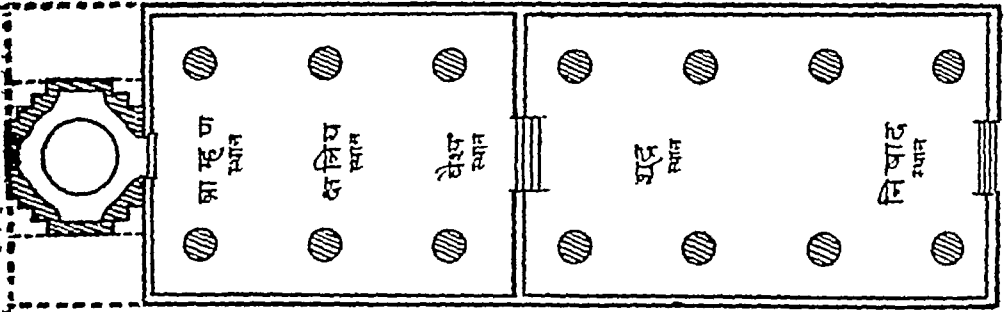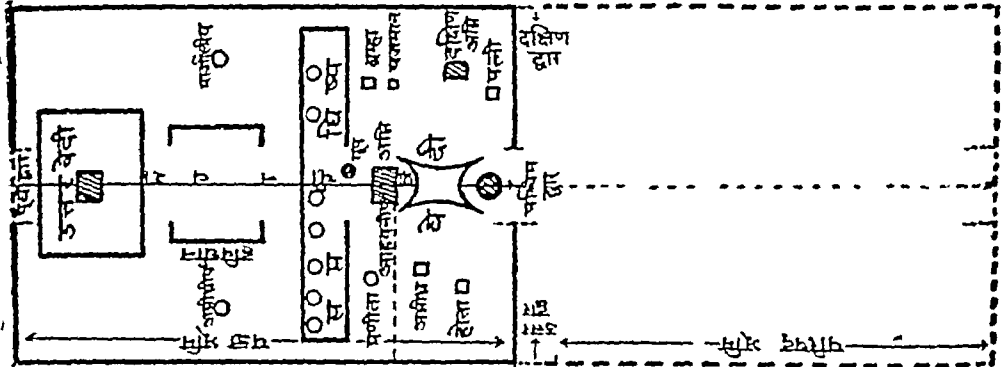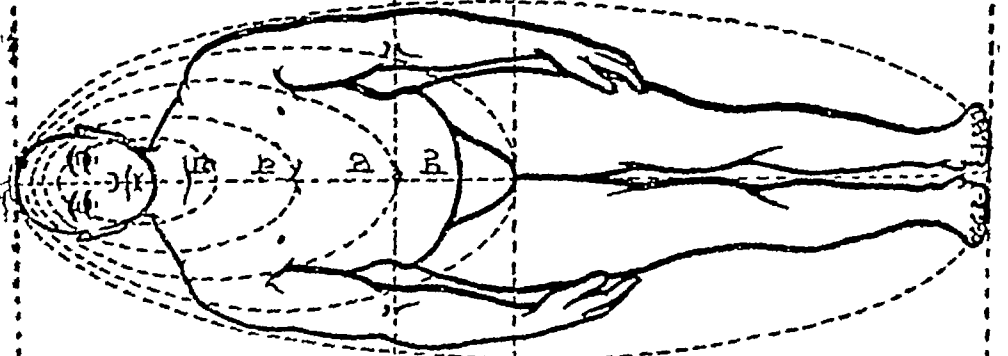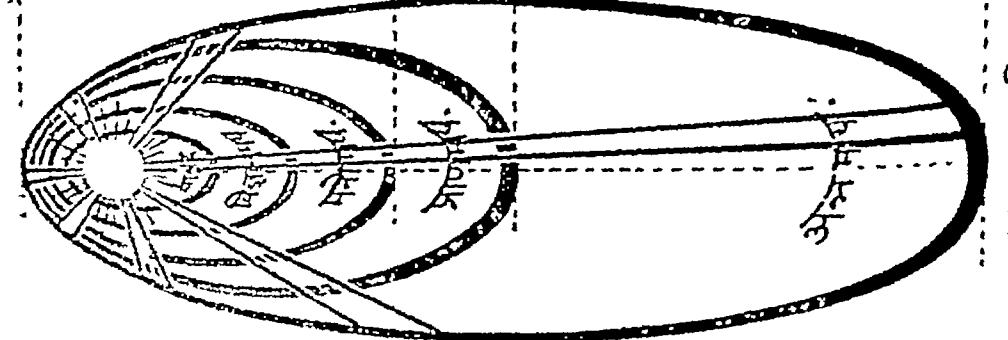
अपनी शरीरकी रचनाका संबंध यज्ञशालासे कैसा है, यह बात इस चित्रसे ज्ञात हो सकती है। यज्ञशालाके विविध अग्निकुंडोंके स्थान अपने शरीरके आधारपर रचे गये है। इसका स्पष्टीकरण इस चित्रसे हो सकता है। अपने शरीरमें आत्मा, हृदय, मस्तिष्क, प्रजनन आदिके स्थान हैं। वही स्थान हवनकुंडोंके आकारमें यज्ञशालामें बताये जाते है। अपने शरीरमें आत्माको आधार रखकर जो घटनायें होतीं हैं, उनकोही यज्ञशालामें विविध अग्नियोंके नामसे बताया है। मानो यज्ञशाला एक अपने देहका ही नकशा है। जिस प्रकार पाठशालाओंमें देशोंके नकशे होते हैं और उनमें ग्राम, प्रांत, नदी, पर्वत, आदि बताये होते है; उसी प्रकार शरीरका नकशा यज्ञशालाके रूपसे बताया गया है। जो बातें अव्यक्त रूपसे शरीरमें हो रहीं है, वही बातें यज्ञशालामें हवनरूपसे की जातीं है।

(१) मुखमें अन्न डालनेसे वह पेटमें जाता है और वहा उसका जठराग्निद्वारा पचन होता है। आहवनीय अग्निके हवन कुंडमेंभी उसी अन्नका हवन किया जाता है। अग्नि प्रदीप्त हुआ तो हवन अच्छा होता है, प्रदीप्त न होनेकी अवस्थामें किया हुआ हवन धूवेंको बढाता है। उसी प्रकार जठराग्नि प्रदीप्त न होनेकी अवस्थामें खाये हुए अन्नसे पेटमें वायु कुपित होता है, और अग्निमांद्य, डकार, अपान वायु आदि होता है।

(२) गार्हपत्याग्नि वास्तविक स्त्रीके योनिस्थानमें है। इसीका विशेष वर्णन करनेकी यहा आवश्यकता नहीं है। पाठक अपनी विचार शक्तिसेही इसको जान सकते है।

(३) उत्तर वेदीमें ज्ञानाग्नि है, जो मस्तिष्क नामसे प्रसिद्ध है। इसमें दुष्ट मनोविकारोंका हवन होता है। पाशवीय भावनाओंका हवन यहां होता है।

इस प्रकार सारांशरूपसे यज्ञशालाका संबंध अपने शरीरके व्यापारोंसे है। पाठक विशेष विचार करके जान सकते है। यहां विशेष विचार करनेके लिये स्थान नहीं है, परंतु प्रसंग प्राप्त होनेके कारण संक्षेपसे लिखना पडा है।

यज्ञशालाकी रचना शरीरकी घटनापर हुई है, यह ज्ञान हो जानेके पश्चात् " आत्माग्नि ही तनूनपात् अग्नि है " यह बात स्पष्ट हो जाती है, और पूर्वोक्त सब वर्णन ठीक प्रकार ध्यानमें आसकता है। इसका ठीक ठीक ज्ञान होनेके पश्चात् ही वैदिक यज्ञोंका तत्वज्ञान ठीक प्रकार समझमें आसकता है, इस लिये पाठकोंसे प्रार्थना है, कि वे इस बातको विशेषरूपसे समझनेका यत्न करें।

उपनिषदोंमें भी इस शारीरयज्ञका वर्णन इसी प्रकार है, देखिये—

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी० ॥ नारायणोपनिषद् ,८०

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनम् ॥ छा. उ. ३।१६।१

" इस यज्ञका यजमान आत्मा है और यजमानपत्नी श्रद्धा है। पुरुषही यज्ञ है, उसकी चौबीस वर्षकी आयु प्रातः सवन है। " इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट हो जाता है, कि इस शरीरमें जो शतसांवत्सरिक यज्ञ चल रहा है, वही सत्य यज्ञ है, और उसीका यजमान

आत्मा और यजमान पत्नी श्रद्धाबुद्धि है, और इसी यज्ञका प्रातः सवन प्रारंभकी २४ वर्षोंकी आयु है। इस यज्ञकी दृष्टिसेही वेदके मंत्रोंको हमें देखना चाहिये।

इससे पूर्व जो विचार किया है, वह इसी दृष्टिसे किया है, इससे पाठकोंके मनमें बात आगई होगी कि, यही उपनिषदोंकी दृष्टि होनेसे सत्यदृष्टि है। और इसी सत्य दृष्टिसे वेदका अर्थ देखना चाहिये।

(६५) अन्य बातोंका उपदेश।

इससे कोई यह न समझे कि, वेदमें अध्यात्मसे भिन्न कोई अन्य बात ही नहीं है। अन्य बातें बहुत ही है, उनका प्रसंगवशात् विचार अवश्य होगा। परंतु पूर्वोक्त विवरणसे यही बताया है कि, ये देवतावाचक शब्द मुख्य अर्थमें किस प्रकार आत्माका भाव बताते हैं। स्थान स्थानके सूक्तोंमें परमात्मा ब्रह्म, राजा, विद्वान्, शूर आदि प्रकरणोंके अनुसार अग्निशब्दही उक्त पदार्थोंका वाचक है। इस बातके उदाहरण भी यहा विशेषरूपसे देनेकी कोई आवश्यकताही नहीं है।

"चत्वारिशृंगाः" यह ऋग्वेदका अग्निदेवताका मंत्र भगवान् पतंजलि महामुनिने "शब्द" पर लगाया है। इससे "अग्नि" देवताका एक अर्थ "शब्द" है यह बात स्पष्ट होती है। यह मंत्र ऋ. ४।५८।३ में है और इसका अध्यात्मविषयक अर्थ इसी लेखमें दिया ही है। यहां इतना ही बताना है कि जिस प्रकार इसका अध्यात्मविषयक अर्थ होने पर "शब्द" विषयक अर्थ हटा नहीं है,

उसी प्रकार अन्यान्य मंत्रोंके विषयमें पाठकोंको समझना चाहिये " अग्नि " शब्द परमात्मवाचक भी है, देखिये—

(६६) परम आत्माग्नि ।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ॥ स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥ ऋ. १।२४।२

" हम (अमृतानां प्रथमस्य) अमर देवोंमें पहिले (देवस्य अग्नेः) अग्निदेव का अर्थात् तेजस्वी परमात्माका (चारु नाम) सुंदर नाम (मनामहे) मनमें लाते है । वही हम सबको (अदितये) प्रकृतिमें पुनः डालता है और जिससे हम माता पिताको देखते हैं । "

इस मंत्रमें " सबसे पहिले अग्निदेव " अर्थात् तेजस्वी परमात्मा का वर्णन स्पष्ट है । इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंके वाचक स्पष्टमंत्र अनेक है, उनका यहां भूमिका में विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । उनका स्पष्ट विचार सूक्तोंके विचार करनेके समय ठीक प्रकार किया जायगा । यहां इस भूमिकामें अग्निमंत्रोंका आध्यात्मिक विचार करनेकी रीति इसलिये विशेषरूपसे बताई है कि साधारण पाठक " अग्नि " शब्दसे " आग " का ही ग्रहण करते है और वेद मंत्रोंके अर्थका अनर्थ करते है, इस लिये अग्निदेवताका मुख्य अध्यात्मस्वरूप जाननेकी इस स्थानपर विशेष आवश्यकता है । उपनिषदोंमें यही बात स्थान स्थानपर कही है, देखिये—

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते, यदिदमद्यते ॥ बृ. उ. ५।९

" यही वैश्वानर अग्नि है जो इस मनुष्य शरीरके अंदर है, जो खाये हुए अन्नका पचन करता है।" यहा वैश्वानर अग्निका आध्यात्मिक रूप बताया है । वैश्वानर अग्निका आधिभौतिक रूप इसी लेखके प्रारंभमें बताया है, वहां ही उसको पाठक देख सकते है। इसी प्रकार अग्निके भिन्न भिन्न स्वरूप का विचार वेदमें स्थान स्थानके मंत्रोंमें है और उसको उसी प्रकार उस उस स्थानपर समझना चाहिये।

(६७) सारांश।

सारांश यह है कि, इस भूमिकामें जो विचार किया है, वह बिलकुल नया नहीं है ! ब्राह्मणग्रंथोंमें, उपनिषदोंमें तथा संपूर्ण आर्षवाङ्मयमें यही विचार स्थान स्थानपर है। उसको स्पष्ट शब्दों में यहां एकत्रित किया है। इसका अधिक विचार पाठक भी अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे करें और वेदके अर्थकी अधिक खोज करें।

इस पुस्तकमें आगे वैदिक अग्निसूक्तोंका अर्थ और स्पष्टीकरण करनेका विचार है। अर्थ करनेके समय मंत्रका सर्वसाधारण सामान्य अर्थ ही दिया जायगा। और उसमें " अग्नि " शब्दके स्थानपर प्रायः " अग्नि " शब्द ही रखा जायगा। इसका हेतु इतना ही है कि " अग्नि " शब्दके अनेक अर्थोंके अनुसंधानसे उस मंत्रके भी अनेक अर्थ पाठक स्वयं कर सकते है। यदि " अग्नि " शब्दका कोई अन्य प्रतिशब्द हमने रख दिया, तो उक्त प्रकार अनेक अर्थ देखना अशक्य हो जाता है। इस लिये सर्व साधारण सामान्य अर्थ करनेके समय देवतावाचक " अग्नि, इंद्र, वरुण " आदि शब्दोंके

(२) **यज्ञस्य देवः**—(यज्ञः) पूजा–संगतिकरण–दानरूप सत्कर्म; जिसमें श्रेष्ठोंका सत्कार, परस्पर संगति अथवा एकता, और एक दूसरेपर उपकार होता है, उसका नाम यज्ञ है। इस प्रकारके शुभ कर्मोंका जो प्रकाशक होता है उसको " यज्ञका देव " कहते हैं। सत्कर्मका संचालक ॥

(३) **देवः**—प्रकाशक, दाता, मर्दानी खेलोंमें प्रवीण, विजयशाली, व्यवहार-चतुर, आनंदवृत्ति, तेजस्वी, हलचल करनेवाला, ज्ञानी, दीर्घायु, उदार, शुभ मनोवृत्तिसे युक्त, लेखन कुशल, स्वतंत्रतासे आनंदित, कारीगर, उद्यमी, उत्साही, मरा हुआ अन्न न खानेवाला, अंतर्मुख, संघसे रहनेवाला ॥

(४) **ऋत्विज्**—ऋतु+इज् (यज्)–ऋतुकालके अनुरूप सत्कर्म करनेवाला, योग्य समयमें योग्य कर्म करनेमें प्रवीण ॥

(५) **होता**—दाता, आदाता–लेनेवाला, आह्वान करनेवाला ॥

(६) **रत्न—धा–तमः**–रत्नोंको धारण करनेवाला, धनवान् ॥

(७) **अग्निः**—गति, प्रकाश, उष्णता देनेवाला, तेजका केंद्र ॥ (अग्निः–अग्रणिः) जो अग्रभागतक, अंततक लेजाता है, पहुंचाता है। (अ-क्नोपनः) नरम नहीं है, अर्थात् अत्यंत उग्र है (निरु. ७।१४–१५) ॥ जो स्वयं प्रकाशमान हो कर दूसरोंको तेज उष्णता प्रकाश और प्रेरणा देता है ॥

प्रथम मंत्रसे बोध—" जो अपना और जनताका प्रत्यक्ष हित करता है, जो स्वयं सत्कर्मोंमें प्रेरित होकर दूसरोंको भी महान् पुरुषार्थोंमें प्रेरित करता है, जो समय के अनुकूल सब सत्कर्म करता है, जो अपने पास धन रखता है और दूसरोंको उदारतासे दान देता है, जो स्वयं तेजस्वी रहकर दूसरोंको भी तेजस्वी बनाता है, उसीकी प्रशंसा करनी चाहिये ॥ १ ॥ "

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभि
रीड्यो नूतनैरुत ॥
स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥

[१] पूर्वेभिः ऋषिभिः उत नूतनैः अग्निः ईड्यः ।

[२] स देवान् इह आवक्षति ॥ २ ॥

[१] प्राचीन ज्ञानियों तथा नवीनों को यह अग्नि प्रशंसनीय है । क्योंकि—

[२] वह देवोंको यहां लाता है ॥ २ ॥

---

(८) पूर्वः—प्राचीन, प्रथम, पूर्वात्य । पूर्ण, प्रवीण ॥

(९) नूतनः—नवीन, अर्वाचीन, आधुनिक । अपूर्ण ॥

(१०) ईड्यः—प्रशंसनीय, स्तुत्य, वर्णनीय । ईड्=स्तुतिकरना ॥

"देव" शब्दका अर्थ टिप्पणी ३; "अग्नि" टि. ७ देखिये ॥

(११) ऋषिः—अंतः स्फूर्तिसे युक्त महात्मा, तत्वज्ञानको सबसे प्रथम देखनेवाला, मंत्रद्रष्टा, कवि, अतींद्रिय तत्वका साक्षात्कार करनेवाला, संत, साधु, तपस्वी ॥ प्रकाश किरण ॥ इंद्रिय ॥ तेजोगोलक ॥

(१२) आ+वह—चलाना, लाना । (आ–वक्ष्) ॥

द्वितीय मंत्रसे बोध—"सब तत्वज्ञानियोंको तेजस्वी की ही प्रशंसा करनी उचित है, क्यों कि, वही उत्तम प्रेरणा करता है ॥२॥"

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्
पोष॑मे॒व दि॒वे दि॑वे ॥
य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

[१] अग्निना रयिं, पोषं, वीरवत्-तमं यशसं एव, दिवे दिवे, अश्नवत् ॥ ३ ॥

[१] अग्निसे शोभा, पुष्टि, और अत्यंत वीरता युक्त यशही, प्रति दिन, प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

तृतीय मंत्र—तै. सं. ३।१।११।१; ४।३।१३।५; मै. सं. ४।१०।४ (४।१४।१६) "अग्नि" शब्दका अर्थ "टि. ७ देखिये।

(१३) रयिः—जल, जीवन, धन, सुवर्ण ॥ प्राणशक्तिसे कार्य करनेवाली देहव्यापी अन्य शक्तियां ॥ खजाना, सामान, सामग्री, संपदा, माल, गुणधर्म, शोभा, शरीरकी कांति ॥

(१४) पोषः—पुष्टि, वृद्धि, पुष्टिकारक भोजन, आहार, वाढ, समृद्धि, विपुलता ॥

(१५) वीर—वत्-तम=अत्यंत वीरोंसे युक्त, शूरोंसे युक्त; जहां शौर्य वीर्य पराक्रम आदि उन्नतिके गुण हैं ॥

(१६) यशस्—यश, कीर्ति, नाम, प्रशंसा, संमान, स्तुति, महिमा, प्रताप, प्रसिद्धि, आदर, सौंदर्य, तेज, धन, अन्न, जल, वैभव, प्रभा, शोभा, ठाठ, कृपा, प्रेम ॥

(१७) अश्—व्यापना, प्राप्त करना, पहुंचना, कमाना, प्राप्त होना, स्वामी बनना, इकट्ठा होना ॥ स्वाद लेना, उपभोग करना ॥

तृतीय मंत्रसे बोध—"तेजस्वीकी संगतिसे शोभा बढती है, समृद्धि होती है और प्रतापपूर्ण कीर्ति फैलती है ॥ ३ ॥"

अग्ने यं यज्ञमध्वरं
विश्वतः परिभूरसि ॥
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

[१] हे अग्ने ! यं अ-ध्वरं यज्ञं विश्व-तः परि-भूः असि; स इत् देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

[१] हे अग्ने ! जो कुटिलता रहित सत्कर्म सब प्रकारसे तू करता है, वह निश्चयसे देवोंतक पहुंचता है ॥ ४ ॥

चतुर्थ मंत्र—तै. सं, ४।१।११।१; मै. सं. ४।१०।३ ॥
" अग्नि " शब्द–टि ७; " देव " शब्द टि. ३ में देखिये ।

(१८) अध्वर—(अ) नहीं है (ध्वरा) कुटिलता अथवा हिंसा जिस कर्म में, उस कर्मको " अध्वर " कहते हैं ॥ कुटिलता रहित, न टूटा हुआ, विघ्नोंसे रहित, हिंसा रहित ॥ एकाग्रतापूर्वक तत्परता से किया हुआ कर्म ॥ चिरस्थाई, पक्का, परिपूर्ण, ठीक, शुद्ध, सच्चा ॥ (अध्वानं–राति इति अध्व-रः) सत्य मार्गका दर्शक, सन्मार्गमें प्रवृत्त ॥ यज्ञ, लालच रहित कर्म ॥

(१९) यज्ञः—सत्कार-संगति-दानात्मक शुभ कर्म । जिसमें श्रेष्ठोंका सत्कार, सज्जनोंसे मित्रता और निर्बलोंकी सहायता की जाती है, उस कर्मको यज्ञ कहते हैं ॥ आत्मा, परमात्मा, विष्णु ॥ प्रशंसनीय श्रेष्ठ पुरुषार्थ, जिससे सबका भला होता है ॥ (टि. २ देखिये)

(२०) विश्व–तः—सर्वतः, सब प्रकारसे, सर्वत्र, सब ओर से ॥

(२१) परि–भूः—(परि-भू) शत्रुका पराभव करना, विजय प्राप्त करना, अन्योंकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ बनना, व्यापना, घेरना, चारों ओर जाना, साथ रहना, संरक्षण करना, सहायता करना, प्रभुत्व करना, शासन करना, इकट्ठा करना, ध्यान अथवा चिंतन करना, सोचना ॥ विजय, महत्वाकांक्षा, व्यापकता, सरक्षण, सहाय्य, प्रभुत्व, एकता, सुविचार आदि गुणोंसे युक्त कर्म, अथवा इस प्रकारके सत्कर्म करनेवाला ॥

चतुर्थ मंत्रसे बोध—"तेजस्वी पुरुष कुटिलता रहित निर्दोषकर्म सब प्रकारसे परिपूर्ण करता है, जिसका परिणाम ज्ञानियों में होता है ॥४॥"

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ॥ देवो देवेभिरागमत् ॥ ५ ॥

[१] होता, कवि-क्रतुः, सत्यः, चित्र-श्रवः-तमः, देवः अग्निः देवेभिः आ-गमत् ॥ ५ ॥

[१] दाता, ज्ञानी और पुरुषार्थी, सच्चा, विलक्षण यशस्वी और दिव्य अग्नि देवोंके साथ आजावे ॥ ५ ॥

" होता " शब्द टि. ५, " देव " शब्द टि. ३, और " अग्नि " शब्द टि. ७ में देखिये ॥

(२२) कवि-क्रतुः—(कविः) ज्ञानी, बुद्धिमान्, चतुर, विचारी, समझदार, प्रशंसनीय, सद्विचारी, तत्वज्ञानी, साधुसंत, महात्मा; जो अपनी दिव्य दृष्टिसे अत्यंत दूर की बात देखता है, जिसको साधारण मनुष्य देख नहीं सकते; दूर दृष्टि; शब्दोंके द्वारा गूढ रहस्यकी बातें बतानेमें चतुर, शब्दशास्त्रमें प्रवीण ॥ (क्रतुः) पुरुषार्थ, उद्यम, सत्कर्म ॥ पुरुषार्थी, उद्यमी, प्रज्ञावान, समर्थ, हौसलेसे कार्य करनेवाला ॥ (कवि+क्रतुः) ज्ञानी, विशेष प्रबुद्ध, महात्मा, प्रेमयुक्त ज्ञानसे श्रेष्ठ कर्म करनेवाला ॥ जिसमें ज्ञान और पुरुषार्थ समप्रमाणमें वृद्धिगत हुए हैं ॥

(२३) सत्यः—सच्चा, सत्यवादी, सत्यकारी, इमानदार, सद्गुणी, सीधा, सरल स्वभाव युक्त ॥ तीनों कालोंमें एक जैसा ॥ सब प्रकारकी अवस्थाओंमें भी जो सचाई नहीं छोडता और अपना कर्तव्य करता है ॥ सत्याग्रही ॥ सत्य, सचाई ॥

(२४) चित्र-श्रवः-तमः=अत्यंत विलक्षण यशसे युक्त ॥ (श्रवः) यश, कीर्ति, धन, मंत्र, प्रशंसनीय श्रेष्ठ सत्कर्म; श्रवण शक्ति ॥

पंचम मंत्रसे बोध—" तेजस्वी सत्पुरुष, उदार, परोपकारी, ज्ञानी, पुरुषार्थी, यशस्वी, तथा सत्यका आग्रहसे पालन करनेवाला होता है, और वह वैसे ही श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ सर्वत्र संचार करता है ॥ ५ ॥ "

यदंग दाशुषे त्व-
मग्ने भद्रं करिष्यसि ॥
तवेत्तत्सत्यमंगिरः ॥ ६ ॥

[१] हे अंगिरः, अंग, अग्ने ! त्वं दाशुषे यत् भद्रं करिष्यसि, तत् तव इत् सत्यम् ॥ ६ ॥	[१] हे अंगोंके प्रेरक प्रिय अग्ने ! तू दाताके लिये जो मंगल करता है, वह तेरा ही सत्य धर्म है ॥ ६ ॥

" अग्नि " टि. ७, " सत्य " टि. २३ देखिये ॥

(२५) अंगिरः—(अंगि-रस्)-अंगोंमें एक जीवन रस रहता है, उसको " अंगि+रस् " कहते हैं । यह जीवन रस सब अंगोंमें चेतना करता है, और सब अवयवोंको प्रेरित करता है । इस प्रकार जो नेता अपनी जातिके अवयवोंमें नव जीवन संचारित करके उनको सत्कर्मोंमें प्रेरित करता है, वह भी " अंगि-रस् " कहलाता है ॥ प्रेरक शक्ति ॥ नेता, संचालक, जीवनरस ॥

(२६) अंग—प्रिय, निज, स्वकीय, अपना प्रेमी ॥

(२७) दाश्वस्—(दाशुषे)-भक्त, सदाचारी, दयालु, दाता, उदार, उदार चरित, धार्मिक, पुण्यात्मा, परोपकारी ॥

(२८) भद्रं—उत्तम, पवित्र, मुख्य, अग्रेसर, अग्रगामी, दयामय ॥ मंगल, कल्याण, अभ्युदय, सुख, उन्नति, सौभाग्य, हित, समृद्धि, उच्चतर अवस्था ॥ सुवर्ण, लोहा ॥

षष्ठ मंत्रसे बोध—" नव जीवन देनेवाला लोकप्रिय तेजस्वी चालक परोपकारी पुण्यात्माओंका हित करता है, यह उसीका सच्चा कर्तव्य है ॥ ६ ॥ "

उप॑ त्वाग्ने दि॒वे दि॑वे॒

दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् ॥

नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ ७ ॥

[१] हे अग्ने ! दिवे दिवे, दोषा वस्तः वयं धिया भरन्तः, त्वा उप-आ-इमसि ॥ ७ ॥

[१] हे अग्ने ! प्रतिदिन, रात्रीके और दिनके समय, हम बुद्धिसे नमन करते हुए, तेरे पास आते हैं ॥ ७ ॥

सप्तम मंत्र—सा. वे. १।१४; वा. य. ३।२२; तै. सं. १।५।६।२; मै. सं. १।५।३॥
" अग्नि " शब्द टि. ७ में देखिये ।

(२९) दिवं—दिन, आकाश, वन, अरण्य, स्वर्ग ॥

(३०) दोषा—रात्री, रात्रीके समय, अंधकार, सायंकाल ॥ शस्त्र ॥ (वस्तृ= वस्तर्) चमकनेवाला, प्रकाशमान, दिन ॥ रहनेवाला ॥ वस्त्र पहननेवाला ॥ (दोषा+ वस्तर्)=रात्रीके समय प्रकाशित होनेवाला, कठिन समयमें तेजको फैलाने वाला ॥ अंधेरेमें रहनेवाला ॥ रात्री और दिन ॥

(३१) धीः—बुद्धि, समझ, धारणाशक्ति, मन, कल्पनाशक्ति, तर्कशक्ति, विचारशक्ति, भक्ति, प्रार्थना, यज्ञ, ज्ञान, शास्त्र, विज्ञान, कर्म, उद्यम ॥

(३२) नमः—नमन, नमस्कार, अन्न, दान, अर्पण, यज्ञ, पूजा, सत्कार, नम्र होना ॥ शत्रुको नम्र करना, शस्त्र ॥

सप्तम मंत्रसे बोध—" प्रतिदिन अपनी बुद्धि और अपने कर्मसे तेजस्वियोंका सत्कार करना चाहिये और उनकी संगतिमें रहना चाहिये ॥ ७ ॥ "

राजन्तमध्वराणां
गोपामृतस्य दीदिविम् ॥
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

[१] अ-ध्वराणां राजन्तं, ऋतस्य गोपां, दीदिविं, स्वे दमे वर्धमानम् ॥ ८ ॥

[१] कुटिलता रहित सत्कर्मोंका प्रकाशक, ऋतका रक्षक, तेजस्वी, अपने संयममें बढता है ॥ ८ ॥

अष्टम मंत्र—वा. सं. ३।२३; तै. सं. १।५।६।२; मै. सं. १।५।३.

(३३) **राजन्तं**—राजत्—प्रकाशनेवाला, तेजस्वी, सुंदर, चमकदार, मुख्य ॥ राज्य करनेवाला, शासनकर्ता ॥ मार्गदर्शक, आज्ञा करनेवाला, प्रबंध कर्ता, क्रमपूर्वक व्यवस्था करनेवाला, मुख्य होकर प्रबंध करनेवाला ॥ "अ-ध्वर" शब्द टि. १८ में देखिये ॥ (३४) **ऋत**—ठीक, शुद्ध, सत्य, उचित, योग्य, स्वत्व, अधिकार, न्याय्य, सीधा, सरल, खरा, निष्कपट, सच्चा, सन्मान्य, पूज्य, तेजस्वी, उदयको प्राप्त, उच्च ॥ यज्ञ, सूर्य ॥ निश्चित नियम, व्यवस्था, पवित्र नियम, दिव्य सत्य, त्रिकालावाधित सत्यनियम ॥ मुक्ति, स्वतंत्रता, मोक्ष, बंधननिवृत्ति ॥ कर्मफल, प्रियभाषण ॥ परमात्मा, आत्मा, जीवन, जल ॥ उंच्छवृत्ति अर्थात् धान्यके कणोंपर निर्वाह करना, याचना न करना ॥ (३५) **गोपा**—रक्षक, तेजस्वी ॥ (गो+पा) इंद्रियोंका संयम करनेवाला, भूमिका पालक, गोरक्षक; भूमि, चंद्र, सूर्य आदिकोंका रक्षक ॥ (३६) **दीदिवि**—तेजस्वी, चमकनेवाला, उदयको प्राप्त ॥ पके चावल ॥ अग्नि, बृहस्पति ॥ स्वर्ग, मुक्ति, बंधननिवृत्ति ॥ (३७) **स्वः**—अपना, निज, स्वकीय ॥ स्वाभाविक, आंतरिक ॥ आत्मा, आत्मशक्ति, विष्णु ॥ धन, माल ॥ (३८) **दम**—दमन, संयम, वश करना, जीतना आधीन करना ॥ स्वाधीनता, आत्मसंयम, मन आदि इंद्रियोंको बुरी वासनाओंसे और बुरे कर्मोंसे हटाना, मनकी स्थिरता, मनःसंयम, मनोनिग्रह, इंद्रियदमन ॥ घर, गृह, स्वस्थान, स्वस्थता ॥ दंड, जुरमाना ॥ विष्णु ॥ **अष्टम मंत्रसे बोध—(१) कुटिलता रहित सत्कर्म करना, (२) सत्य धर्मका रक्षण करना, (३) तेजस्विता का जीवन व्यतीत करना, और (४) इंद्रियदमन और संयमसे अपनी शक्तिका विकास करना, श्रेष्ठोंके ये चार निजधर्म हैं ॥ ८ ॥**

स नः पितेव सूनवे
ऽग्ने सूपायनो भव ॥
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

[१] हे अग्ने! पिता सूनवे इव, (त्वं) नः सु-उपायनः भव ।

[२] नः स्वस्तये सचस्व ॥ ९ ॥

[१] हे अग्ने ! जैसा पिता (अपने) पुत्रको, (वैसा) तू हमको सुगमता से प्राप्त हो । और-

[२] हमारे कल्याण के लिये साथ रह ॥ ९ ॥

नवममंत्र—वा. सं, ३।२४; तै. सं. १।५।६।२; मै. सं. १।५।३ ॥

" अग्नि " शब्द टि. ७ में देखिये ।

(३९) पिता—पितृ-रक्षक, जनक, पूर्वज, पितर ॥

(४०) सूनुः—पुत्र, बालक, पुत्रीका पुत्र, छोटाभाई ॥ सूर्य, आकका पौधा॥

(४१) सूपायनः—सु+उप+आयनः=सुगमतासे पास जाने योग्य ॥

(४२) स्वस्ति—सु+अस्ति=उत्तम अस्तित्व, कल्याण, स्वस्थता, स्वास्थ्य, भला, हितकारक, शुभमंगल ॥

(४३) सच्—(धा.) सन्मान करना, सेवा करना, सहाय्य करना, पास रहना, साथ होना, ऐक्य करना, प्रीति करना, पास जाना ॥

(४४) भू—(धा) भव्=होना, जन्म होना, बनना, जीवित रहना, प्राणसे युक्त होना, रहना, एक अवस्थामे रहना, सेवाके कार्यमें संयुक्त होना, शक्य होना, सहायता देकर आगे बढाना, सहायता देना, साथ होना, निज बन कर रहना, दत्तचित्त होना, नियमसे व्यवहार करना, विजय कमाना, उन्नत होना, अभ्युदयको प्राप्त करना ॥

नवम मंत्रसे बोध—" जैसा पिता अपने पुत्रके साथ रहकर उसका कल्याण करता है, वैसा तेजस्वी सत्पुरुष हमें सुगमतासे प्राप्त हो और सब प्रकारसे हमारा कल्याण करे ॥ ९ ॥

प्रथम सूक्तका स्पष्टीकरण।

स्पष्टीकरणकी दिशा।

यह प्रथम सूक्त " वैश्वामित्र मधुच्छंदा " ऋषिका देखा हुआ है। इसी प्रकारका गाथी " विश्वामित्र " ऋषिका देखा हुआ एक सूक्त है। दोनों सूक्त " अग्नि " देवताके है, और दोनोंमें ९ मंत्र है, तथा शब्दों और वाक्यों की समानता भी है। सबसे प्रथम यह समानता देखने योग्य है।--

वैश्वामित्रो मधुच्छंदा ऋषिः। आग्नि देवता। ऋ. १।१	गाथिनो विश्वामित्र ऋषिः। अग्निदेवता। ऋ० ३।१०
(१) अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं॥ होतारं॥ १॥	त्वां यज्ञेष्वृत्विजमग्ने होतारमीळते॥ २॥
(२) गोपामृतस्य दीदिविं॥ वर्धमानं स्वे दमे॥८॥	गोपा ऋतस्य दीदिहि स्वे दमे॥ २॥
(३)राजन्तमध्वराणां॥८॥	स केतुरध्वराणाम्॥ ४॥
(४) देवो देवेभिरागमत्॥ ८॥	अग्निर्देवेभिरागमत्॥ ४॥

इस प्रकार देवताकी स्तुतिमें अनेक स्थानमें समानता है। शब्द,

वाक्य और मंत्रभाग तथा पूर्ण मंत्र एक देवताके वर्णनमें तथा भिन्न देवताओंके वर्णनमें भी पुनः पुनः आगये है। यह समानता यहां प्रथमतः दर्शानेका उद्देश्य इतनाही है कि, मंत्रोंका अर्थ निश्चित करनेके लिये इस समानताके विचारसे बहुत सहायता होती है। समान मंत्रोंमें अन्यत्र जो अर्थ होता है, वही यहां करनेसे मंत्रोंका सत्य अर्थ निःसंदेह होना संभव है; इसलिये पाठक भी इस समानताका विचार करें और इसकी सहायतासे मंत्रोंके अर्थका निश्चय करें। यहा इस स्पष्टीकरणमें समान मंत्र भाग इकट्ठे किये है, और उनसे अर्थकी संगति बतलानेका यत्न किया है। आशा है कि, पाठक भी इसका विचार स्वतंत्रता पूर्वक करेंगे और अपना परिणाम यथावकाश प्रकट करेंगे। बहुत विद्वानोंके इस प्रकारके प्रयत्नसे ही वेदमंत्रोंका सत्य अर्थ प्रकाशित होना संभव है। क्योंकि जिस कालमें हम है, उस वैज्ञानिक कालमें दुराग्रह से कार्य करनेसे कोई बात मानी नहीं जायगी, इसलिये प्रमाण शुद्ध विचार होनेकी आवश्यकता है। आशा है कि पाठक भी इसी दृष्टिका अवलंबन करेंगे।

इस सूक्तका विचार करनेके पूर्व "अग्नि" के विशेषणरूप जो शब्द इस सूक्तमें आगये है, वे किस पदार्थके विशेषतया बोधक होते है, इसका प्रथम विचार करना आवश्यक है। "अग्नि" शब्दसे लोकभाषामें "आग" का बोध होता है, परंतु इस सूक्तमें केवल "आग" का भावही है, ऐसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि कई शब्दोंकी सार्थकता "आग" अर्थ लेनेसे नहीं होती है। देखिये—

(१) रत्न—धा—तमः=रत्नोंका धारण करनेवाला "रत्न+धा" होता है, और अनेक प्रकारके रत्नोंका धारण करनेवाला "रत्न+

धा+तम" कहलाता है। प्रत्यक्ष दृष्टिसे देखा जाय, तो यह "आग" स्वयं अपने शरीरपर अनेक रत्नोंका धारण करती हुई दिखाई नहीं देती, इस लिये यह शब्द विशेष कर किसी अन्य पदार्थ की सूचना दे रहा है।

(२) कविक्रतुः—"कवि" शब्द केवल "आग" का गुण बतानेके लिये प्रयुक्त हुआ है, ऐसा मानना असंभव है। क्योंकि आग में कवित्वकी प्रत्यक्षता नही है। कवि वह होता है कि, जो अतींद्रिय बातोंको शब्दोंके द्वारा प्रकट करता है। यह बात "आग" में नही है। "क्रतु" शब्द "प्रज्ञा" वाचक मानते है, यह भाव भी "आग" में नहीं है। इसलिये मुख्य दृष्टिसे "कवि+क्रतु" शब्द आगका सूचक यहां नहीं है।

(३) सत्यः—यह शब्द भी त्रिकालाबाधित तत्वका बोधक है। इस लिये "आग" का बोधक नहीं है, क्योंकि आग बुझ जाती है और तीनों कालोमें एक जैसी नहीं रहती।

(४) पुरोहित, ऋत्विज्, होता—ये शब्द भी मुख्य वृत्तिसे आग के बोधक नहीं हो सकते। गौण वृत्तिसे लक्षणा करके इनका अर्थ "आग" में घटाना और बात है।

इस प्रकार ये विशेषण रूप शब्द "आग" का बोध नहीं कराते, परंतु किसी अन्य पदार्थमें ये अन्वर्थक होते है। जिस पदार्थ में सूक्तके सब शब्द सुसंगत हो सकते है, वही पदार्थ सूक्त का "मुख्य देवता" है। अन्यभाव गौणवृत्तिसे मानना न मानना

योजक की योजना पर ही अवलंबित है। यहां हमें देखना है कि, इस सूक्तमें मुख्य दृष्टिसे किसका वर्णन हो रहा है और किस रीतिसे गौण दृष्टिमें अन्य पदार्थोंका बोध हो सकता है। इसका निश्चय करनेके लिये इस सूक्तमें निम्न दो शब्द विशेष महत्व रखते हैं—

(५) अंग=" अंग " शब्दका अर्थ " अवयव " है। "शरीर, अवयव, शरीरके अंग अथवा भाग " इस अर्थमें मुख्यतः यह शब्द प्रयुक्त होता है। हरएक प्राणिमात्रको अपना शरीर अथवा अपने शरीर के अंग अत्यंत प्रिय होते है, इसलिये अवयव वाचक " अंग " शब्दका " प्रिय " ऐसा अर्थ पछिसे होने लगा। यदि इस सूक्तका " अंग " शब्द अपने ही निज " अवयव " का बोधक माना जायगा, तो मानना पडेगा कि, इस सूक्तमें वर्णित " अग्नि " अपने ही शरीरमें निज अवयव रूप अथवा अपना अंगभूत ही कोई पदार्थ है, जहा यह " अंग " शब्द पूर्ण रीतिसे सार्थक हो सकता है। इस विषयमें निम्न लिखित शब्द विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखने योग्य है—

(६) अंगिरः=(आंगि+रस)=अपने शरीरके अंगोंमें जो एक जीवन रूप रस होता है, उसको " अंगीय–रस " कहते है। यही जीवनरूप अंग–रस " अंगि+रस् " शब्दसे बताया जाता है। इस विषयमें ब्राह्मण ग्रंथोंका कथन देखने योग्य है—

(१) तद्देवा रेतः प्राजनयन्, ततोऽगाराः समभवन्, अंगारेभ्योऽगिरसः ॥ श. ब्रा. ४।५।१।८ ॥

(२) तं वा एतं अंगरसं संतं अंगिरा इत्याचक्षते ॥

गो. ब्रा. पू. १।७॥

(३) येऽङ्गिरसः स रसः ये अथर्वाणः....तद्भेषजं....
तदमृतं....तद्ब्रह्म ॥ गो. ब्रा. पू. ३।४॥

" (१) देवोंने रेत उत्पन्न किया, उससे अंगार (जलते हुए कोयले) उत्पन्न हुए, उनसे अंगिरस हुए है। (२) जो अंग+रस है वही अंगिरः (अंगि—रस्) है। (३) जो अंगिरस् है, वह रस है, यही अथर्वा है, और यही....औषधी....अमृत....और ब्रह्म है।"

इस कथनसे स्पष्ट हो रहा है कि " अंगि—रस् " मुख्यतया शरीरका जीवन रस है। क्यों कि जो यह जीवन रस शरीरके अंगों और अवयवोंमे है, वही अमृतरस है, उसीमें ब्रह्मकी शक्ति रहती है, इसलिये जबतक यह जीवन रस शरीरमे ठीक अवस्थामें रहता है, तबतक ही आरोग्य रहता है, इसीलिये इस रसको गोपथ ब्राह्मण में " भेषज " अर्थात् दोषनिवारक औषधि कहा है। अंगिरस का यह मूल स्वरूप है। और यह अपने शरीरके अंगोंमें ही व्यापक है, इतनाही नहीं, परंतु अपना अंगरूप ही सत्व है। इस प्रकार जो जीवनका सत्व " अंगिरस् और अंग " शब्दोंसे बताया जाता है, वही इस सूक्तका प्रतिपाद्य विषय मुख्य रूपसे है। इस अर्थको ध्यानमें धरनेसे सूक्तका मुख्यार्थ ध्यान में आसकता है।

मुख्यदृष्टि और गौणदृष्टि, ऐसी दो दृष्टियोसे वेदका अर्थ देखना होता है। मुख्य प्रतिपाद्य विषयमें मंत्रके संपूर्ण शब्द पूर्णतया संगत

होते है, और गौण विषयमें लक्षणा करके, अर्थका संकोच करके, केवल भाव ही देखा जाता है। इन दोनों दृष्टियोंका विशेष रूप इस स्पष्टीकरणमें बताया जायगा। इन दो प्रकारके अर्थोंका अन्य वर्गीकरण, जो वैदिक सारस्वतमें सुप्रसिद्ध है, यहां अवश्य देखना चाहिये। वेद मंत्रोंका अर्थ (१) आध्यात्मिक (२) आधिभौतिक और (३) आधि दैविक ज्ञान क्षेत्रसे भिन्न भिन्न होता है। आध्यात्मिक क्षेत्र वह है कि, जो आत्मासे लेकर स्थूल देहतक फैला है आधिभौतिक क्षेत्र वह है कि जो प्राणिमात्रके संघातमें फैला है, तथा आधिदैविक क्षेत्र वह है कि जो संपूर्ण जगत्‌की स्थिर चर समष्टिमें व्यापक है। उक्त तीनों क्षेत्रोंका भाव बतानेवाले संक्षिप्त और बालबोध शब्द "(१) व्यक्ति, (२) समाज और (३) जगत्" येही है। यद्यपि इनसे संपूर्ण पूर्वोक्त क्षेत्रोंका बोध नहीं होता, तथापि उनका साधारण तात्पर्य इन शब्दोंसे जाना जा सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसलिये वैदिक सूक्तोंका भाव इन तीनों क्षेत्रोंमें देखना होता है। यह बात विशेष रूपसे इस स्पष्टीकरणमें बताई जायगी।

"अंग, अंगिरस्" आदि शब्दोंसे बोधित होनेवाला जो अग्नि है, वह "आग" नहीं है, प्रत्युत हमारे शरीरके अंगोंमें कार्य करनेवाला जीवन रूप अंगरस ही है, इस बातकी सूचना इससे पूर्व दीगई है। शरीरका "अंगरस" व्यक्तिगत होनेसे आध्यात्मिक पदार्थ है। इसीका आधिभौतिक अर्थात् सामाजिक किंवा राष्ट्रीय क्षेत्रमें प्रतिनिधि "राष्ट्रीय जीवन" उत्पन्न करनेवाला संघ होना स्वाभाविक है। तथा आधिदैविक क्षेत्रमें इसीका रूप

अग्नि अथवा आगमें देखा जा सकता है । इस से स्पष्ट हुआ है कि यहां का " अग्नि " शब्द किस क्षेत्रमें किस पदार्थका बोधक है । यद्यपि सूक्तका मुख्य प्रतिपाद्य विषय " जीवनाग्नि " है, तथापि " **राष्ट्रीय जीवनाग्नि** " और " **पांचभौतिक अग्नि** " भी गौण वृत्तिसे उक्त प्रकार बोधित होते है । अब इस दृष्टिसे प्रत्येक मंत्रका आशय देखना है ।

प्रथम मंत्र ॥ १ ॥
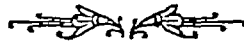
" अग्निमीळे पुरोहितम् ॥ "

" मै प्रत्यक्ष हितकर्ता अग्नि की प्रशंसा करता हूं ।" यह प्रथम मंत्रका प्रथम पाद है । " **पुरो+हित** " शब्द इसमे मुख्य है, इसका अर्थ प्रत्यक्ष हित करनेवाला, सबसे पहिले कल्याण करनेवाला अथवा पूर्ण हित करनेवाला है । इस शब्दका लौकिक भाषामे अर्थ पुजारी, गुरु, कुलोपाध्याय हुआ है, उसका कारण इतनाही है कि, कुलोपाध्याय ही कुलनिवासियोंका सबसे अधिक हित करता है । आजकलके पुरोहित यजमान का सच्चा हित करें या न करें, यजमानका सच्चा हित करना उनका आवश्यक कर्तव्य है, इसमें कोई संदेह नहीं है । गुरु, उपाध्याय, अध्यापक, मुख्योपाध्याय आदिकों के आधीन विद्यादान करनेका पवित्र कार्य होता है, इसलिये इनके विद्यादान से कुलवासियोंका उत्तम प्रकारसे हित होना स्वाभाविक है । इसलिये राष्ट्रीय नवजीवन उत्पन्न करनेका कार्य इन उपाध्यायोंके पास होता है ।

यह " **राष्ट्रीय जीवनाग्नि** " गुरुकुलोंमें अध्यापक प्रज्वलित करते हैं और उसकी ज्वालायें सब राष्ट्रीय और सामाजिक जीवनमें फैलतीं हैं। इस दृष्टिसे अध्यापकोंका महत्व राष्ट्रमें विशेष है; क्यों कि यही अध्यापक राष्ट्रका सच्चा कल्याण, नवयुवकोंके अंतःकरणोंमें धार्मिक जीवन की जागृति करनेद्वारा, करता है।

प्रत्येक प्राणिमात्रके शरीरमें जो जीवन रस है, वही उस व्यक्तिका सच्चा कल्याण करता है, इसलिये यह जीवनशक्ति संपूर्ण अन्यशक्ति-योंकी अपेक्षा सबसे अधिक कल्याण करनेवाली है। इसी प्रकार जगत्के व्यवहार में अग्निका महत्व है। इस आग्नेय शक्तिका यह कार्य विचारकी दृष्टिसे सर्वत्र देखने योग्य है। इसीलिये वेदमें अन्यत्र कहा है—

(१) **अग्निमीडिष्व यंतुरम् ॥** ऋ. ८।१९।२
(२) **अग्निमीडिष्वावसे ॥** ऋ.८।७१।१४
(३) **अग्निमीडीत मर्त्यः ॥** ऋ. ५।२१।४
(४) **अग्निमीडीताध्वरे हविष्मान् ॥** ऋ. ६।१६।४६
(५) **अग्निमीडे कविक्रतुम् ॥** ऋ. ३।२७।१२
(६) **अग्निमीडेन्यं कविम् ॥** ऋ. ५।१४।५
(७) **अग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ॥** वा. य. १३।४३
(८) **अग्निमीडे भुजां यविष्ठम् ॥** ऋ. १०।२०।२
(९) **अग्निमीडे व्युष्टिषु ॥** ऋ. १।४४।४

(१) नियामक अग्निकी प्रशंसा कर, (२) अपने संरक्षणके लिये अग्निका वर्णन कर, (३) मर्त्य अग्निकी स्तुति करे, (४) यज्ञमें हविर्द्रव्य लेनेवाला अग्निका महत्व कहे, (५) कवि और क्रतुरूप अग्निका वर्णन करता हूं, (६) कवि अग्नि वर्णनीय है, (७) पहिले प्रदीप्त अग्निको नमस्कारों या अन्नोंद्वारा बढाता हूं, (८) (भुजां) भोग करनेवालों में (यविष्ठं) युवा अग्निका वर्णन करता हूं, (९) (व्युष्टिषु) उदयके समयोंमे अग्निका वर्णन करता हूं ॥

ये मंत्रभाग बता रहे है कि, आग्नेय शक्तिका महत्व कितना है। इन मंत्रोंका महत्व उस समय ध्यानमें आसकता है कि, जिस समय तीनों क्षेत्रोंमें अग्निके स्वरूपका ठीक ठीक पता लग जाय। उक्त मंत्रभागोंमें स्पष्ट बताया है कि, यह अग्नि (यंतुर) नियामक, व्यवस्थापक अथवा प्रबंध कर्ता है, (कवि) शब्दशास्त्रमें प्रवीण है, (भुजा यविष्ठ) भोग करनेवालेंमें युवा है, तथा (व्युष्टिषु) उदयके समयमें इसका चिंतन किया जाता है। ये शब्द अग्निका स्वरूप व्यक्त कर सकते है। अग्निकी जो प्रशंसा का जाती है, वह अपने (अवसे) संरक्षणके लिये ही है, क्यों कि यही अपना सच्चा संरक्षण करता है। इतने वर्णनसे अग्निके स्वरूपका थोडासा निश्चय हुआ है और उसका पुरोहित होनेका भाव भी ध्यानमें आगया है। अब देखना है कि " ईडे " शब्दका वास्तविक तात्पर्य क्या है, क्योंकि अग्निके साथ इस " ईडे " शब्दका प्रयोग कई मंत्रोंमें हुआ है, और यह शब्द विशेष हेतुसे ही प्रयुक्त होता है। प्रायः इसका अर्थ " प्रशंसा, स्तुति, वर्णन " आदि करते है, और हमने भी येही

अर्थ ऊपर रखे है, परंतु इसका विशेष भाव यहां है। यह भाव निम्न मंत्रोंसे व्यक्त हो सकता है—

(१) ईळामहा ईड्यॉं आज्येन ॥ ऋ. १०।९३।२

(२) तं हि शश्वंत ईळते स्रुचा देवं घृतश्चुता ॥
अग्निं हव्याय वोळहवे ॥ ऋ. ५।१४।३

(३) देवॉं ईळाना हविषा घृताची ॥ ऋ. ५।२८।१

(४) को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन ॥ ऋ. १।८४।१८

"(१) (आज्येन) घीके साथ पूजनीयोंकी पूजा करेंगे, (२) (घृतश्चुता स्रुचा) घी वाले चमससे अग्नि देवकी पूजा करते है, (३) घीसे देवोंकी पूजा होती है, (४) घृतयुक्त हविसे कौन अग्निकी पूजा करता है ?"

इन मंत्रभागोंमें "ईड्" के साथ "आज्य" का संबंध है। अर्थात् इसके विचारसे पता लगेगा कि, "ईडे" शब्दका अर्थ केवल स्तुति नहीं है, परंतु घी, (हवि) अन्न आदिके साथ अर्पणका संबंध है। यह भाव ध्यानमें धरकर निम्न मंत्र देखिये—

(१) अग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ॥ वा. य. १३।४३

(२) अग्निमीडे भुजां यविष्ठम् ॥ ऋ. १०।२०।२

(३) घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ अ. ५।२७।४

(१) (नमोभिः) अन्नोंद्वारा अग्निकी पूजा करता हूं, (२) भोग करनेवालोंमें युवा अग्निकी अर्थात् जवान होनेके कारण अधिक खानेवाले अग्निकी मै पूजा करता हूं, (३) घी और (नमसा) अन्नसे अग्निकी पूजा होती है।

इन मंत्रोंमें **"नमः"** शब्द है, पूर्व मंत्रोंके साथ इनका विचार करनेसे यहां **"नमः"** का अर्थ **"अन्न"** प्रतीत होता है। अन्न, वज्र और नमन ये तीन अर्थ "नमः" के है। प्रसंगानुकूल यहां अन्न इष्ट है, क्योंकि उसके साथ घी भी है। अन्न और घीसे अग्निकी स्तुति, प्रशंसा आदि नहीं हो सकती, परंतु उसका संवर्धन हो सकता है। इस लिये " **अग्निमीडे पुरोहितं** " इन पदोंका अर्थ " मै प्रत्यक्ष-हित कर्ता (अग्नि) जीवनाग्निका संवर्धन करता हूं। " ऐसा हो सकता है। घी और उत्तम अन्नोंसे जीवनशक्तिका संवर्धन होना संभवनीय भी है, इस लिये यह अर्थ प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आ-सकता है।

वेदमें अन्नवाचक " इष्, इष " ये शब्द है, नैरुक्त दृष्टिसे इनका संबंध " इष, इर, इरा, इडा, ईरा, इड् ईडा, इळा, इला " शब्दोंके साथ है और इसी लिये इन सब शब्दोंके अनेक अर्थोंमें **"अन्न"** भी एक अर्थ है। यही कारण है किं अन्न और घी के साथही अग्निकी (ईडा) वधाई होती है जो पूर्वोक्त मंत्रोंसे सूचित होगई है। सब प्राणी अन्न चाहते है, इस लिये " इष् (इच्छ्)" का अर्थ अन्न होता है और वही भाव " ईड्, ईळ् " आदि शब्दोंमें है। इससे " ईडे " का संबंध अन्नसे है यह बात सिद्ध है।

इस सूक्तमें अग्नि शब्दका मुख्य स्वरूप जीवनाग्नि है, यह बात पूर्वही बताई गई है। यह जीवनाग्नि घी और अन्न के योग्य सेवनसे बढ सकता है, यह दीर्घायु प्राप्तिका बोध यहां इस मंत्रमें बताया गया है। यही जीवनाग्नि किंवा आत्माग्नि, अंगिरस्, अंगरस अमृतरस

अथवा ब्राह्मरस है, जिसका योग्य अन्न और उत्तम घी द्वारा पोषण होता है, यही सूचना इस मंत्रमें "ईड्" धातु कर रहा है। यह आध्यात्मिक जीवनाग्निके पक्षमें अर्थ है। आधिभौतिक पक्षमें राष्ट्रीय जीवनाग्नि गुरु और उपाध्यायों के रूप में समाजमें होता है, इनका सत्कार अन्नादि द्वारा करना योग्य है। आधिदैविक पक्षमें हवनीय अग्नि घी आदि हवनीय पदार्थोंद्वारा वढाया जाता है, इत्यादि भाव प्रत्येक समयमें पाठक विचारकी दृष्टिसे देखते जांय। वैयक्तिक और सामाजिक अर्थ मानवी उन्नति के साधक हैं और पांचभौतिक अग्निपरक अर्थ सामान्य दृष्टिसे स्थूल उपासना का साधक है। अब अगले दो पादोंका विचार करेंगे—

"यज्ञस्य देवमृत्विजम् ॥
होतारं रत्नधातमम् ॥"

इन दोनों पादोंमें अग्निका स्वरूप वर्णन है। सब से प्रथम **"यज्ञस्य देवं"** ये शब्द विशेष महत्व रखने के कारण यहां देखने योग्य है। यह अग्नि यज्ञ का देवता है, जिस यज्ञका देवता अग्नि है, वह यज्ञ कौनसा है? और कहां चल रहा है? इस बातका पता लगाना आवश्यक है। इसका विचार करनेके लिये निम्न वाक्य देखिये—

अविंदन्ते अतिहितं यदासीत्
यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत् ॥ ऋ. १०।१८१।२

"जो (यज्ञस्य परमं धाम) यज्ञका परम स्थान (गुहा) बुद्धिमें, हृदय में है वह (अति-हितं) अत्यंत गुप्त है परंतु ज्ञानी सत्पुरुष उसको (अविंदन्ते) प्राप्त करते है।" इस मंत्रमें यज्ञका

स्थान हृदय है ऐसा स्पष्ट कहा है, हृदय स्थान में अत्यंत गुप्तरूपसे अर्थात् अदृश्य रीतिसे यह यज्ञ चल रहा है। जो विशेष ज्ञानी है, वेही इसको अपनी सूक्ष्म दृष्टिसे जानते है। अन्य साधारण मनुष्य जो स्थूल दृष्टिके है, वे इस यज्ञको देख नहीं सकते, इसका कारण उनका अज्ञान ही है। ऐसे अज्ञानी मनुष्योंको व्यक्त रूपमें बतानेके लिये ही बाह्य यज्ञ रचा गया है, जो अग्निमे आहुतियां डाल कर किया जाता है। तात्पर्य यह कि मनुष्यकी हृदय रूप गुहामें सच्चा यज्ञ गुप्तरीतिसे चल रहा है, उसका नकशा ही यह बाह्य यज्ञ है। इस बातका विशेष वर्णन क्रमशः आगे आ- जायगा। अब यहां इसका और भाव देखना है, इसलिये निम्न वचन देखिये:—

(१) **पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं....॥१॥....यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनं सवनं...॥ ३ ॥.......यान्यष्टाचत्वारिंश-द्वर्षाणि तत्तृतीयसवनं ..**॥ ५ ॥ छा. ३।१६

(२) **यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्** ॥ छा ८।५।१ ॥

(३) **अहं ब्रह्माहं यज्ञः** ॥ बृ. १।५।१७ ॥

(४) **तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्मं, उरो वेदिः, लोमानि बर्हिः, वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुः, तपोऽग्निः, दमः शमयिता, वाग्घोता, प्राण उद्गाता, चक्षुरध्वर्युः, मनो ब्रह्मा, श्रोत्रमग्नीत्, यावद्ध्रियते सा दीक्षा, यद्-**

आति तद्धविः, यत्पिबति तदस्य सोमपानं.........
यन्मुखं तदाहवनीयः......।। महा. नारा. उ. २५।१
(५) **स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि ॥** प्राणाग्नि उ. २
(६) **अहं क्रतुरहं यज्ञः** ॥ भ. गी. ९।१६
(७) **बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि ।।** गर्भ उ. ४; प्राणाग्नि उ. ४
(८) **वाग्वै यज्ञस्य होता, चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः,.......**
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता, मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा बृ. ३।१।१॥

(१) मनुष्यका जीवन–संपूर्ण आयु–ही एक यज्ञ है, पहिले २४ वर्षका प्रातः सवन है, मध्यके ४४ वर्ष माध्यंदिन सवन है, अंतके ४८ वर्ष तृतीय सवन है ॥ (२) जो यह यज्ञ है वही ब्रह्मचर्य है ॥ (३) मै ब्रह्मा और मैं यज्ञ हूं ॥ (४) इस ज्ञानीके यज्ञमें आत्मा यजमान, श्रद्धा यजमान पत्नी, शरीर इध्म, छाती वेदी, बाल बर्हि, वेद शिखा, हृदय यूप, वासना घी, क्रोध पशु, तप अग्नि, दम शमिता, वाणी होता, प्राण उद्गाता, चक्षु अध्वर्यु, मन ब्रह्मा, कान आग्नीध्र, व्रतपालन दीक्षा, भोजन हवि, जल सोमपान, मुख आहवनीय अग्नि है ॥ (५) अपने शरीरमें यज्ञका परिवर्तन करता हूं ॥ (६) मै क्रतु और मै ही यज्ञ हूं ॥ (७) बुद्धि और इतर इंद्रिय यज्ञ पात्र है ॥ (८) यज्ञका होता वाक् है,....अध्वर्यु चक्षु है,....उद्गाता प्राण है,....और ब्रह्मा मन है ।

यह यज्ञका वर्णन विस्पष्ट रूपसे बता रहा है कि, यह यज्ञ मनुष्य के अंदरही हो रहा है। **“यज्ञका स्थान हृदयमें गुप्त है”**

(ऋ. १०।१८१।२) इस ऋग्वेदके कथनका आशय ही उपनिषद् कारोंनें उक्त प्रकार स्पष्ट किया है। यही यज्ञ यहां इस ऋग्वेदके प्रथम सूक्तमें है और इसी यज्ञका देव (यज्ञस्य देवं) जो अग्नि है वह हृदय स्थानमें ही विराजमान है। अब पाठकोको पता लग सकता है कि " **अंग, अंगिरस्** " आदि पदोंद्वारा किस रहस्यका कथन हुआ है। हृदयमें जो आत्मशक्ति है, वही यह अग्नि है, यहां हृदयमें बैठकर यही आत्मा आयुष्यकी समाप्ति तक यज्ञ कर रहा है। यही क्रतु है, प्रत्येक वर्ष एक एक क्रतु करता है, और इस प्रकार १०० वर्षोंमें १०० क्रतु होनेके कारण इसीका नाम " **शतक्रतु** " होता है। यह शतक्रतु आत्मा ही " इंद्र " नामसे प्रसिद्ध है और इसी आत्मा शतक्रतु इंद्रकी शक्ति " इंद्रियों " में कार्य कर रही है। इस प्रकार यहां इंद्र और अग्नि एक ही हैं, इसीलिये कहा है कि—

इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋ १।१६४।४६

" एकही सद्वस्तुका ज्ञानी लोग इंद्र, अग्नि, मित्र, वरुण, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि विविध नामोंसे वर्णन करते है।" जिस एक आत्माका विविध नामोंसे उक्त प्रकार वर्णन होता है, वही आत्माग्नि इस ऋग्वेदके प्रथम सूक्तमें वर्णन किया गया है। और यही " **यज्ञका देव** " है। क्यों कि जबतक यह इस शरीरके हृदय मंडप में रहकर यज्ञ करता है, तब तक ही यह यज्ञ चलता रहता है, जब

यह चला जाता है, तब यज्ञ समाप्त हो जाता है। पूर्ण शतायु (अर्थात् १०८ अथवा १२० वर्षकी आयु) का उपभोग लेकर स्वेच्छासे यज्ञसमाप्त करके यह चला गया, तो कहा जाता है कि " इसका यज्ञ समाप्त हुआ, " परंतु जब विविध व्याधियां इसपर आक्रमण करतीं है, और इसका अकालमृत्यु होता है, तब कहा जाता है कि राक्षसोंनें इस यज्ञका विध्वंस किया। इस प्रकार बीचमें ही अकालमें ही यज्ञका विध्वंस न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये। क्या ऐसा प्रबंध करना मनुष्यके आधीन है? वेदादि शास्त्रोंके परिशीलनसे पता लग सकता है कि, योगादि साधन प्रारंभसे ही यदि किये जांय, तो उक्त सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इस हेतुसे ही इस प्रथम मंत्रमें कहा है कि, यही " यज्ञका देव " है। यदि इसका यथायोग्य सत्कार हुआ तो यह यज्ञकी समाप्ति ठीक प्रकार कर सकेगा, अन्यथा चला जायगा। प्रत्येक मनुष्य को यह सूचना यहा मिल रही है, कि " यज्ञका देव " अपने हृदयमें है, उसको देखना चाहिये और उसका महत्व जानना चाहिये। इस आध्यात्मिक दृष्टिसे वेदमंत्रोंका मनन करनेसे उक्त ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

यह " यज्ञका देव " है और यही "ऋत्विज्" है। पाठकोंको यहा ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि, यहां यज्ञका देव और ऋत्विज् एकही हुए है (१) यज्ञका देव, (२) पुरोहित, (३) ऋत्विज्, (४) होता आदि सब बाह्य यज्ञमें अलग अलग होते है, परंतु इस प्रथम मंत्रमें वर्णित यज्ञमें ये सब एकही वस्तुमें मिलगये है। जो यज्ञका देव है वही पुरोहित, ऋत्विज् और वही होता है।

इतनाही नहीं प्रत्युत अन्य याजकभी वही एक यहां है। इसी लिये इस मंत्रमें वर्णन किया हुआ यज्ञ अध्यात्म यज्ञ है और बाह्य यज्ञ नहीं है। क्यों कि अध्यात्मयज्ञमें आत्माही सबकुछ बनता है वैसा इस बाह्य यज्ञमें नहीं हो सकता। इस बाह्य यज्ञमें यज्ञका देव अन्य होता है तथा ऋत्विज, यजमान आदि उससे भिन्न होते है। जहां अग्निष्टोमादि यज्ञ होते है, वहां देखनेसे पता लगसकता है कि, उक्त भिन्नता कितनी स्पष्ट होती है। परंतु इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे कहा है कि यज्ञका देव और ऋत्विज् एकही है। अध्यात्ममें यह एकता कैसी होती है देखिये। "**वाणी, प्राण, चक्षु, मन, ये क्रमशः होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा हैं** ("बृ. उ. ३।१।१–६)" जिन्होंने आत्मविचार किया है उनको पता है कि, आत्माकी शक्ति ही वाणी, प्राण, चक्षु, और मनमें कार्य कर रही है, इसलिये आत्मा ही सब यज्ञ कर रहा है। वही यज्ञ का देव है जिसकी उपासना यज्ञमें की जाती है; वही यजमान है जो यज्ञ करता है, वही होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि ऋत्विज् है, जिनके द्वारा यज्ञ कराया जाता है। इस अवस्थामें उपास्य और उपासक एक ही हो जाते है। यह भाव प्रथम मंत्रमें वेदने दिया है। जो कहते है कि, अध्यात्म-विद्या उपनिषदोंमें ही है और वेदमें नहीं है; उनको इस मंत्रका विचार उक्त प्रकार अवश्य करना चाहिये, तब पता लगेगा कि वेद मंत्रोंकी गुप्त विद्या अबतक ही गूढ रही है और उसमेंसे थोडीसी उपनिषदोंमे प्रकट हो गई है। अस्तु। अब ऋत्विज् आदि शब्दोंका तात्पर्य देखना चाहिये।

ऋत्विज्=(ऋतु+यज्)= जो ऋतुके अनुसार यज्ञ करता है। अध्यात्म दृष्टिसे व्यक्तिमें छः ऋतु है। (१) उत्पत्ति, (२) अस्तित्व, (३) वर्धन, (४) विपरिणाम, (५) क्षीणता और (६) नाश। जगत् के संपूर्ण पदार्थोंमें ये छे ऋतु हैं। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है कि, जिसमें ये न हों। वनस्पति, पशु पक्षी, तथा मनुष्य इनमें ये प्रत्यक्ष है। प्राणिमात्रमें जो आत्माग्नि है वह इन छे ऋतुओ में प्राप्त ऋतुके अनुकूल व्यापार करता है। आत्माकी प्रेरणा-से बालक पैदा होता है, वह अपने अस्तित्व के लिये प्रयत्न करता है, शरीरादिको बढाता है, बढते बढते परिपक्व हो जाता है, पश्चात् क्षिणता का ऋतु प्रारंभ होता है और अंतमें नाश होता है। इस प्रकार इस यज्ञका प्रारंभ और अंत आत्मा ही करता है। इन व्यापारोंमें आत्मा की शक्तिका कार्य देखना इष्ट है, वैदिक धर्मकी यदि कोई विशेषता है तो यही है कि, यह वैदिक धर्म हरएक स्थानपर आत्मा की शक्तिकी जागृति कराता है। अस्तु। इस रीतिसे व्यक्तिके शरी-रमें आत्मा का ऋतुओंके अनुकूल कार्य देखा जाता है, यही अध्यात्म-ज्ञान है। आत्माके संबंधसे जिसकी उत्पत्ति है वह अध्यात्म (अधि+आत्मा) है। हरएक मनुष्यको ऋतुओंके अनुकूल कार्य करना चाहिये यह उपदेश यहां मिलता है। बाल्य तारुण्य और वार्धक्य इन तीन कालोंमें प्रत्येकमें दो ऋतु होनेसे आयुभरमें छे ऋतु होते है। प्रत्येक ऋतुमें जो करनेयोग्य कर्तव्य होते है, उनको उत्तम प्रकार करना अत्यावश्यक है। कर्तव्य स्वयं अपने विषयमें जैसे होते है, वैसे ही दूसरोंके संबंधके कारण भी उत्पन्न होते है। ये

सब ऋतुके अनुकूल ही करने चाहिये। मनुष्यके संपूर्ण आयुमें छे ऋतु हैं, उसी प्रकार सालमें छे ऋतु हैं, इन ऋतुओंके अनुसार अपनी ऋतुचर्या रखनेसे आयु आरोग्य और बल प्राप्त होता है। इसी प्रकार मासमें और प्रतिदिन ऋतु होते है, इसका कोष्ठक यह है—

आयुमें ऋतु १०० वर्ष	वर्षमें ऋतु १२ मास	मासमें ऋतु ३० दिन	दिनमें ऋतु २४ घंटे
जन्म, बालपन	वसंत	प्रतिपदा	प्रातःकाल
कुमारावस्था	ग्रीष्म	अष्टमी	मध्यान्ह
तारुण्य	वर्षा	पूर्णिमा	सायंकाल
वृद्धता	शरद्	षष्ठी	रात्रीका प्रारंभ
क्षीणावस्था	हेमंत	द्वादशी	मध्यरात्र
अंतसमय	शिशिर	अमावास्या	रात्रीका अंतिम प्रहर.

इसप्रकार समयके छोटे या बडे विभागमें ऋतुओकी कल्पना की जाती है, और प्रत्येक प्राप्त ऋतुकालमें व्यक्ति विषयक, समाजविषयक और जगद्विषयक अपना कर्तव्य अवश्य पालन होना चाहिये। यज्ञका देव आत्माग्नि है वह ऋतुके अनुसार अपने कर्तव्य करता है, इसालिये हरएकको वैसा करना अत्यावश्यक है; जो ऋतुके अनुसार अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे करेगा, वही उन्नत होगा, और जो न करेगा वह अवनत होगा। यज्ञका देव हमारा आदर्श है। उसके गुण धर्म और कर्म वेदमंत्रोंमें इसलिये कहे है कि, उसके अनुसार मनुष्य कार्य करें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

आधिभौतिक दृष्टिसे सामाजिक और राष्ट्रीय कार्य क्षेत्रमें भी राष्ट्रीय जीवनमें जो ऋतु होते हैं, उनके अनुसार हरएक को अपने कर्तव्य अवश्य करने चाहिये । राष्ट्रीय ऋतुपरिवर्तन राजकीय क्रांतिरूपसे इतिहासमें प्रसिद्ध है । इसीप्रकार अन्यान्य अवस्थामें राष्ट्रके और समाज, संघ अथवा जातिके ऋतु होते है । इन ऋतुओंके अनुकूल अपना कर्तव्य पालन करनेसे राष्ट्रीय उन्नति और कर्तव्यपालन न करनेस राष्ट्रीय अवनति होती है । सब अन्य व्यवहारोंके विषयमें भी यही बात सनातन है । योग्य विचार करके इस विषयका अनुभव पाठक लेलें । जगत् के अंदर जो सावत्सरिक ऋतु परिवर्तन होता है अथवा शताब्दियों और सहस्राब्दियोंके पश्चात् होता है, उसके अनुकूल मनुष्य मात्रको अपना आचरण करना आवश्यक ही है । जो ऋतुके अनुसार अपना कर्तव्यपालन न करेगा, उसका नाश होगा । सामान्यतः बहुतसे यज्ञयाग ऋतु संधिमें जो बीमारियां होतीं हैं, उनके निवारण के लिये किये जाते है, इसलिये कहा है:—

भैषज्ययज्ञा वा एते । तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते ।
ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते ॥ गो. उ. प्र. १-१९॥

" औषधियोंके ही ये यज्ञ हैं, इसलिये ऋतुके संधिसमयमें ये किये जाते है, क्योंकि ऋतुसंधिमें व्याधियां होतीं हैं । " इसप्रकार यह आधिदैविक दृष्टिसे विचार हुआ है । पाठक विचार करके इससे अधिक बोध लेलें ।

होता=इस शब्दका अर्थ दाता, आदाता और आव्हानकर्ता है। देनेवाला, लेनेवाला और बुलानेवाला ये तीन भाव इस शब्दमें हैं। पहिला दान लेना है, पश्चात् दूसरोंको बुलाना और तदनंतर उनको देना होता है। विद्या प्राप्त करनी, विद्यार्थियोंको अपनेपास बुलाना और उनको विद्यादान करना यह "ज्ञानयज्ञ" का हवन है। धन प्राप्त करना, जिनको धनकी आवश्यकता है, उनको निमंत्रण देना और उनको धनका अर्पण करना यह द्रव्ययज्ञ" है। इसी प्रकार अन्यान्य यज्ञोंमें "होता" का काम निश्चित है। अध्यात्मदृष्टिसे व्यक्ति के शरीरमें आत्माग्नि प्राकृतिक पदार्थोंको अपनेपास कर रहा है, वायु, सूर्य, जल आदि देवताओंके अंशोंको बुलाकर उनको शरीरके भिन्नभिन्न स्थानोंमें रखता है और अपनी शक्ति उनको देकर उनके द्वारा यह शतसांवत्सरिक यज्ञ कराता है। इसी प्रकार अपनी उन्नतिके लिये हरएकको अपने अपने कार्यक्षेत्रमें करना चाहिये।

रत्नधातमः=(रत्न+धा+तमः)=रत्नोंका धारण करनेवाला है। यहां शंका हो सकती है कि यह आत्मा रत्नोंका धारक कैसा है, इसके रत्न कौनसे है और उनका धारण यह कैसा करता है? इन प्रश्नोंके उत्तर के लिये निम्नलिखित मंत्र देखिये—

दमे दमे सप्तरत्ना दधानोऽग्निर्होता निषसादा यजीयान् ॥ ऋ. ५।१।५

"(दमे) घर घर में सात रत्नोंको धारण करनेवाला अग्नि यज्ञ करनेके लिये होता बनकर बैठा है।" आत्माग्नि शरीरमें बैठा है, आत्माका घर यही शरीर है, इत्यादि बातोंका निश्चय पहिले हो चुका

है। इस शरीरमें यह आत्माग्नि सात रत्नोंका धारण करता है। ये सात रत्न (१) मुख, (२) नेत्र, (३) कर्ण, (४) नासिका, (५) त्वचा ये पंच ज्ञानेंद्रियें और (६) मन तथा (७) बुद्धि (किंवा कईयों के मतसे अहंकार) मिलकर होते हैं। जिस प्रकार विविध रत्नोंके अलंकारोंसे शरीरकी शोभा बढती है, उसी प्रकार उक्त इंद्रिय शक्तियोंके विकास से मनुष्यकी शोभा वृद्धिंगत होती है। परंतु इसमें विशेष बात यह है कि, यदि ये आत्माके सात रत्न उत्तम अवस्थामें रहें, तो बाह्य रत्नोंके विना भी शोभा और यश बढता है, और ये आत्माके सप्त रत्न ठीक न रहें, तो बाह्य रत्नोंसे शरीरके अलंकार बढानेपर भी उसका कोई उपयोग नहीं होता। तात्पर्य ये आत्माके रत्न मुख्य हैं और बाह्य रत्न गौण हैं।

व्यक्तिमें और जगत् में भी सप्त रत्न हैं। समाज और राष्ट्रमें प्रकाश, शांति, उग्रता, ज्ञान, गुरुत्व, वीर्य और स्थैर्य इन सप्त गुणोंके कर्म करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष रत्नरूप होते हैं और वेही राष्ट्रकी शोभा बढाते हैं। इस प्रकार सर्वत्र सप्त रत्नोंका रूप देखकर उनका धारण पोषण करना आवश्यक है। प्रत्येक रत्नका वर्ण भिन्न होता है और "वर्णचिकित्सा" के नियमानुसार अपने अनुरूप वर्णका रत्न शरीर-पर धारण करनेसे शरीरका आरोग्य, आयुष्य और बल बढनेमें सहायता होती है, इस विषयका विचार सुविचारी वैद्योंको करना उचित है।

यहां प्रथममंत्रके संपूर्ण शब्दोंका विचार हुआ इस मंत्रमें कहे सब शब्द अग्निका स्वरूप निश्चित करनेके लिये सहायता दे रहे हैं। इन

शब्दोंके आशयका विचार करनेसे जो स्वरूप निश्चित होता है, वह ऊपर बताया ही है। इस स्वरूपको ध्यानमें धरकर इस प्रकारका यह अग्नि " यज्ञका देव " है और यह यज्ञ मुख्यतया अपने शरीरमेंही चल रहा है, इसके नियम देखकर मानवसंघका व्यवहार होना चाहिये, इत्यादि बोध अंशरूपसे हमने देखा है। अब द्वितीय मंत्रका विचार करेंगे—

॥ द्वितीय मंत्र ॥ २ ॥
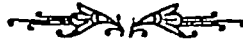
" उक्त प्रकारका अग्नि प्राचीन और अर्वाचीन तत्वज्ञानियोंको पूज्य होता है। " यह द्वितीय मंत्र के दो पादोंका आशय है। अग्निका जो गुणगान प्रथम मंत्रमें हुआ है, उसकी ठीक कल्पना होनेके पश्चात् उसके परमपूज्य होनेमें शंकाही नहीं हो सकती। प्राचीन अर्वाचीन, पूर्ण अपूर्ण सभी विद्वानोंको वह पूजनीय है, इसमें विवादके लिये कोई स्थान नहीं है। मंत्रके ये प्रथम दो पाद अति-स्पष्ट होनेके कारण इनपर अधिक लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मंत्रका तृतीयपाद विशेष महत्वकी बात कहता है, इसलिये उसका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है, इसलिये वह पाद देखिये—

"स देवाँ एह वक्षति ॥ २ ॥"

" वह देवोंको यहां लाता है। " यह क्रिया वर्तमानकाल की और प्रत्यक्ष अनुभवकी है। इस कथनसे प्रश्न होता है कि (१) यह देवोंको कहां लाता है ? किस रीतिसे लाता है ? किस समय लाता

है ? और कहासे लाता है ? इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर देनेके पूर्व यह देखना चाहिये कि, इस मंत्र भाग की वेदमें द्विरुक्ति हुई है, देखिये—

(१) मधुच्छंदा वैश्वामित्रः ॥ अग्निः ॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ॥
" स देवाँ एह वक्षति ॥ ऋ. १।१।२॥

(२) वामदेवो गौतमः ॥ अग्निः ॥

स हि वेदा वसुधितिं महाँ आरोधनं दिवः ॥
" स देवाँ एह वक्षति ऋ. ४।८।२

दो भिन्न ऋषियों के देखे हुए मंत्रोंमें इस तृतीय चरणकी द्विरुक्ति हुई है । जो मंत्र वेदमें वारंवार आता है, उसमें विशेष महत्व का उपदेश होता है, इस लिये उस बातको बारंबार कहकर पाठकोंके मन में वह बात स्थिर की जाती है। पुनरुक्त मंत्रोंका इस प्रकार महत्व है। अब पता लगाना चाहिये कि, कौनसी महत्व की बात इस मंत्रभाग में कही है ? इसका विचार करने के लिये निम्न मंत्र देखिये—

(१) स देवान् विश्वान् बिभर्ति ॥ ऋ. ३।५९।८

(२) स देवान् सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्
याति भुवनानि विश्वा ॥ अ. १०।८।१८

(१) वह एक देव सब अन्य देवोंका धारण पोषण करता है। (२) वह एक देव सब अन्य देवोंको अपनी छातीमें धारण करके सब भुवनोंको देखता हुआ चलता है। " यह उस एक आत्माका वर्णन है कि, जिसके आधारसे अन्य देवगण रहते है। यही सब अन्य देवोंका धारण पोषण करनेवाला और सबसे उचित कार्य करानेवाला देव है। इसलिये कहा है—

(१) यज्ञो बभूव, स आबभूव, स प्रजज्ञे, स उ वावृधे पुनः ॥ स देवानामधिपतिर्बभूव० ॥

अ. ७।५।२

(२) स योनिमैति, स उ जायते पुनः, स देवानामधिपतिर्बभूव ॥ अ. १३।२।२५

(१) एक यज्ञ था वह प्रकट हुवा वह बन गया और पुनः बढने लगा। वह देवोंका अधिपति होगया ॥ (२) वह योनि को प्राप्त हुआ, वह निःसंदेह पुनः पुनः जन्म लेता है, वह देवोंका अधिपति हुआ है ॥

यज्ञ प्रकट होता है, पुनः पुनः बनता है, बननेके पश्चात् बढता है, यह वर्णन "जीवनरूप यज्ञ" का है। क्यों कि अगले मंत्रमे ही कहा है कि देवोंका अधिपति बननेवाला है, वह योनिमें प्रविष्ट होकर पुनः पुनः जन्म लेता है।

इस प्रकार वारंवार जन्म लेता हुआ, अनेक वार यज्ञ करनेका यत्न करता है, इसके यज्ञपर राक्षस हमला करते हैं, और बीचमें विघ्न करते है। इस प्रकार यज्ञोंमें विघ्न होनेपर वह फिर योनीमें प्रविष्ट होकर पुनः जन्म लेता है और पुनः यज्ञ करता है। यह उसका प्रयत्न यज्ञकी पूर्णता होनेतक चलता है। यह मंत्र पुनर्जन्मका स्वरूप बता रहा है, परंतु उसका अधिक विचार करनेका यह स्थान नहीं है। पुराणोंमें ऋषियोंके यज्ञोंका नाश राक्षसों के द्वारा होनेकी अनेक कथायें है, उनका मूल यहां इन मंत्रोंमें हैं। विचारशील पाठकोंको पता लग सकता है कि, यह आत्माका शतसांवत्सरिक जीवन यज्ञ

ही है। जिस समय यज्ञ करनेकी इच्छासे यह योनिक्षेत्रमें उतरता है, उस समय यह देवोंको अपने साथ लाता है, और इसका आह्वान सुन कर सब ३३ कोटी देव अपने अंशरूपसे इस गर्भमें अवतार लेते हैं और उन सब देवोंका अधिराजा यह स्वयं हृदयस्थानमें रहने लगता है। इसका प्रभाव देखिये—

(१) स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ य. ३४।५१
(२) स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ अ. १।३५।२
(३) स देवेषु वनते वार्याणि ॥ ऋ. ५।४।२
(४) स देवो देवान्प्रति पप्रथे पृथु ॥ ऋ २।२४।११

"(१) वह देवोंमें दीर्घ आयु करता है, (२) वह जीवोंमें दीर्घ आयु करता है, (३) वह देवोंमेंसे वरने योग्य सत्वोंको स्वीकार करता है, (४) वही एक देव है जो अन्य सब देवोंके प्रति फैला है" इस एक आत्मदेवका इतना प्रभाव होनेके कारण इसका शब्द सुनते ही इसके साथ सब अन्य देव जाते है। अब और देखिये—

(१) देवो देवानां गुह्यानि नामाविष्कृणोति ॥
ऋ. ९।९५।२

(२) देवो देवानां जनिमा विवक्ति ॥ ऋ. ९।९७।७
**(३) आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां न मिनामि धाम ॥
ते मा भद्राय शवसे ततक्षुरपराजितमस्तृतम-षाळ्हम् ॥** ऋ. १०।४८।११

(४) त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्देवो देवानाम-
भवः शिवः सखा ॥
तव व्रते कवयो विद्मनापसो ऽजायन्त मरुतो
भ्राजदृष्टयः ॥ ऋ. १।३१।१

(५) त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः कविर्देवानां परि-
भूषसि व्रतम् ॥ ऋ. १।३१।२

(६) देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि
चारुरध्वरे ॥ शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने
सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ऋ. १।९४।१३

(७) देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ॥ ऋ. २।१२।१

(८) देवो देवान् परिभूर्ऋतेन ॥ ऋ. १०।१२।२

(९) होता पावकः प्रदिवः सुमेधा देवो देवान्
यजत्वग्निरर्हन् ॥ ऋ. २।३।१

(१०) समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्
यजासि जातवेदः ॥ ऋ. १०।११०।१

(११) देवो देवान् स्वन रसेन पृंचन् ॥ ऋ. ९।९७।१२

“ (१) यह एक देव अन्य देवोंके (नामानि) नामोंको प्रकट करता है, (२) यह एक देव अन्य सब देवोंके जन्म कहता है, (३) वसु रुद्र और आदित्यादि देवोंके धामका मैं नाश नहीं करता। क्योंकि मैं अपराजित, अजेय और असह्य हूं और वेही

कल्याण और वल केलिये मुझे व्यक्त करते हैं, (४) हे अग्ने ! तहीं पहिला अंगिरा ऋषि है, और तू एक देव अन्य सब देवोंका सच्चा शुभमित्र है । तेरे नियममें ही ज्ञानसे पुरुषार्थ करनेवाले कवि तेजस्वी होते हैं, (५) हे अग्ने ! तू पहिला अत्यंत अंगरस है, और अन्य देवोंके नियमको सुभूषित करता है, (६) तू सब देवोंका एक देव और अद्भुत मित्र है, और यज्ञमें वसुओंकाभी वसु तूही है । हे अग्ने ! तेरे सख्यमें हम (मा रिषाम) नष्ट नहीं होंगे और (शर्मन्) सुख ही प्राप्त करेंगे, (७) तू एक देव अन्य देवोको कर्मसे भूषित करता है, (८) सत्य नियमसे तू एक देव अन्य देवोंको व्यापता है, (९) होता, (पावकः) पवित्र कर्ता, उत्तम मेधावान् योग्य अग्निदेव देवोंका यजन करे, (१०) हे जातवेद अग्ने ! तू (मनुषः दुरोणे) मनुष्यके घरमें प्रदीप्त होकर देवोंके लिये यज्ञ करता है, (११) एक देव अपने रससे अन्य देवोंको तृप्त करता है । "

यह एक देवका महत्व है । यह एक देव सब अन्य देवोंको अपने यज्ञ में बुलाता है, वे देव उसके यज्ञमें आते हैं, उसके साथ रहते है और वह चलागया तो उसके साथ चले जाते हैं । यह सब वेदका आलंकारिक वर्णन एक ही बातको बता रहा है, वह बात यह है कि "(१) आत्मा जन्म लेने के समय योनी में प्रवेश करना चाहता है, उस समय वह अन्य देवोंको अर्थात् पृथिवी, आप, तेज, वायु, सूर्य, चंद्र, विद्युत, आदि सब देवताओंको अपने साथ बुलाता है, (२) उसका शब्द सुनकर सब ३३ कोटी

देव अपने अपने अंशको उसके साथ भेजते हैं, (३) सब देवोंका यह देह बनता है और उसका अधिष्ठाता आत्मदेव होता है, और इस प्रकार बनकर वह जन्म लेता है और शतसांवत्सरिक यज्ञ प्रारंभ करता है। ये देव कहां आकर रहते है इसका वर्णन भी देखिये--

(१) सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१२॥

(२) गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥

(३) रेतः कृत्वा आज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥

(४) सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य विभेजिरे ॥ ३१ ॥

(५) तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ॥
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

अ. ११।८

(६) अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्,
वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्,
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्,
चंद्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्,
आपो रेतो भूत्वा शिस्नं प्राविशन् ॥ ऐ. उ. २।४

"(१) सब मर्त्य शरीरका सिंचन करके देव पुरुषमें घुसे हैं, (२) मर्त्य घर करके देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं, (३)रेत का घी बनाकर देव पुरुष में वसने लगे है; (४) सूर्य चक्षु बना है, वायु प्राण हुआ है, (५) इसलिये ज्ञानी इस पुरुषको ब्रह्म मानता है, क्यों कि सब देवतायें इसीके अंदर रहतीं है, जैसीं गौवें गोशालामें रहतीं

हैं॥ (६) अग्नि वाचा बनकर मुखमें घुसा है, वायु प्राण बनकर नासिकामें रहने लगा, सूर्य चक्षु बनकर आंखमें वसने लगा, चंद्र मन बनकर हृदयमें रहने लगा, जलदेव वीर्य बनकर शिस्नमें रहा।" इस प्रकार अन्यान्य देवतायें इस एक देवके साथ आगई और यहां इस शरीरमें अपने अपने स्थानमें रहने लगीं। यह सब वेदों और उपनिषदोंका वर्णन देखनेसे पता लग सकता है कि इस शरीरमें आत्माके साथ सब देव आकर बसे है। इस हेतुसे ही इस प्रथम सूक्तके द्वितीय मंत्रके अंतिम पादमें कहा है कि "**स देवान् एह वक्षति**" अर्थात् "**वह सब देवोंको यहां लाता है।**" उक्त मंत्रोंके विचारसे पाठकों को पता लगाही होगा कि कहां और किस प्रकार लाता है, इस लिये इसका अधिक विचार अब करनेकी आवश्यकता नहीं है। परमात्मा संपूर्ण जगत् में व्यापक होकर सूर्यादि सब देवताओंका धारण: पोषण करता है, उसीप्रकार उसका अमृतपुत्र जीवात्मा इस देहमें रहकर सूर्यादि देवतांशोंका धारण पोषण करता है, यह दोनोंमें समानता होनेके कारण मंत्रोंमें दोनोंका वर्णन एकही रीतिसे होता है, यह बात पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंमें स्पष्टरूपसे देख सकते हैं। अस्तु। इस रीतिसे यह आत्माग्नि अन्य देवोंको यहां–इस देहमें–इस कर्म भूमिमें–लाता है और शतसांवत्सरिक यज्ञ करनेकी तैयारी करता है, यह द्वितीय मंत्रका आशय देखलिया। अब तृतीय मंत्रका विचार करेंगे।

॥ तृतीयमंत्र ॥ ३ ॥

"अग्निना रयिमश्नवत्, पोषमेव दिवे दिवे ॥
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥"

" अग्निसे शोभा, पुष्टि और वीरतायुक्त यश प्रतिदिन प्राप्त होता है।" आत्माग्निसे यह सब हो रहा है, यह प्रत्यक्ष बात है, इसलिये इसका अधिक विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। शरीरकी शोभा, मनका उत्साह, बुद्धिका ज्ञान, अवयवोंकी पुष्टि यह सब इस आत्माग्निके कारण हो रहा है। जब आत्माग्नि यहांसे चला जाता है, तब न यहा शोभा रह सकती है और न पुष्टि हो सकती है। यह आत्माग्निका महत्व है। जो यश मिलरहा है, वह भी उसीके कारण मिल रहा है। यह यश भी वीरोंके साथ प्राप्त होनेवाला है, न कि किसी अन्य प्रकारका है। वास्तविक रीतिसे देखा जाय, तो शौर्यवीर्य आदि सद्गुणोंके विना यश मिलना संभवही नहीं है। हमेशा वीरोंकोही यश प्राप्त होता है। इस लिये यह मंत्र बता रहा है कि, वीर बनो और यश संपादन करो। "धन, पुष्टि, शोभा, यश और वीरता" य गुण प्राप्त करके विजयी होनेकी सूचना यह मंत्र दे रहा है। अब चतुर्थ मंत्र देखिये—

॥ चतुर्थ मंत्र ॥ ४ ॥
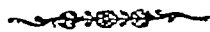
" अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ॥
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

"हे अग्ने ! जो कुटिलता रहित सत्कर्म तू सब प्रकारसे करता है, वह देवोंतक पहुंचता है।" यह चतुर्थ मंत्रका आशय है; इसमें तीन बातें कहीं हैं।

(१) अग्नि (अ-ध्वरं) हिंसा रहित, कुटिलता रहित सत्कर्म करता है,

(२) अग्नि उक्त सत्कर्मका (विश्व-तः) सब प्रकारसे (परि-भूः) नियामक अर्थात् शासक अथवा प्रबंध-कर्ता है, और—

(३) अग्निका यह यज्ञ देवोंमें पहुंचता है, अर्थात् इसका प्रभाव देवोंमें दिखाई देता है।

जिन पाठकोंने पूर्व मंत्रोंका स्पष्टीकरण देखा होगा, उनको इन विधानों की सत्यता समझानेकी आवश्यकता नहीं है। तथापि इन का थोडासा स्पष्टीकरण यहां करना आवश्यक है। "अग्नि हिंसा-रहित अकुटिल कर्म करता है," यह पहिला कथन है। जिसमें नाश होता है, अथवा जिससे नाश होता है उसको हिंसामय कर्म कहते है; तथा जिसमें कुटिलता, टेढा पन, द्रोह और अपूर्णता होती है उसको कुटिल कर्म कहते है। ये कर्म हीन और अवनतिकारक हैं। इनसे न केवल करनेवालोंकी अवनति होती है, प्रत्युत जिनका संबंध ऐसे असत्कर्मोंके साथ आता है, उनका भी नाश होता है। इस लिये "हिंसा रहित और कुटिलता रहित सत्कर्म" ही सबको करने

चाहिये। परंतु यहा इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिये, कि ऐसे श्रेष्ठ कर्मोसे दुष्टोंको कष्ट पहुंचतेही हैं, परंतु दुष्टोको कष्ट पहुंचनेही चाहिये। जिस समय दुष्ट अपनी दुष्टता छोडेंगे उस समयही उनको कष्ट नहीं होंगे, तब तक उनके कष्ट दूर नहीं हो सकते। प्रकाश आतेही अंधकारका नाश होना स्वाभाविकही है। परंतु अंधकारके नाश करनेका पाप प्रकाशको नहीं लग सकता, इसी प्रकार दुष्टोंको दंड देनेसे यद्यपि दुष्टोंको कष्ट पहुंचनेके कारण हिंसा होती है, तथापि उक्त कर्मको हिंसामय कर्म नहीं कहा जाता। प्रकृत विषयमें अग्नि प्रकाश देता है और अंधकारका नाश करता है, उष्णता देता है और शीतताका नाश करता है, गति उत्पन्न करता है और सुस्तिको दूर करता है। यही बात आधिभौतिक दृष्टिसे समाजमें निम्न प्रकार होती है। अग्निके समान तेजस्वी गुरुजन ज्ञानका प्रकाश करते है और अज्ञानांधकारका नाश करते है; ज्ञानियोंका संगठन करते हैं और अज्ञानियोंको दूर करते है; उत्साह उत्पन्न करते हैं और शिथिलताको दूर करते हैं; नवजीवन संचारित करके चेतनता उत्पन्न करते है और आलस्यको दूर करते हैं, तथा ज्ञानी उत्साही और पुरुषार्थियोंकी सहाय्यता करते है और अनाडी सुस्त और निकम्मे लोगोंको दूर करते हैं। ऐसा करनेके समय पुरुषार्थहीन सुस्त मनुष्योंको कष्ट होता है, परंतु इसको हिंसामय कर्म कहा नहीं जाता। क्यों कि यही उन्नतिका सच्चा मार्ग है। परमात्मा भी साधुओंका परित्राण और असाधुओंका निर्दलन करता है। इसलिये यह उन्नतिका सर्वसाधारण त्रिकालाबाधित सत्यनियम है।

इस नियम को ध्यानमें घरनेसे पता लगेगा कि, जो अग्नि हिंसा रहित सत्कर्म करता है, उसमें असत्तत्वोंका नाश अवश्य होता है, परंतु असत्का नाश करनेका नाम हिंसा नहीं है। तात्पर्य यह है कि **" सत्तत्वका संरक्षण और असत्तत्वका नाश करना ही हिंसा रहित अकुटिल सत्कर्म है।"**

अध्यात्मदृष्टिसे शरीरमें देखिये कि यह आत्मा, प्राण अथवा जीवनका सत्वरस शरीरमें प्राणघातक व्याधिकीटकोंके साथ सदैव युद्ध करता है, युद्धमें उनका पराभव करता है और आरोग्य का रक्षण करता है। व्याधिकीटक आसुरी स्वभावके कारण शरीरकी हिंसा करना चाहते हैं, उस हिंसासे इस शरीरका बचाव करनेके कारण आत्माके इस सत्कर्म को " अ-ध्वर यज्ञ " अर्थात् हिंसा रहित यज्ञ कहते हैं। शरीरका सर्वतोपरि संरक्षण करनेका कार्य पूर्णतया यही जीवनका केंद्र कर रहा है, इसलिये मंत्रमें कहा है कि (विश्वतः परि-भूः) सब प्रकारसे सबका नियामक और शासक यही है। सब जानते ही है कि, आत्माकी श्रेष्ठता है और अन्य इंद्रिय शक्तियोंकी गौणता है, क्यों कि आत्माकी जीवनरूप प्राणशक्ति ही अन्य इंद्रियों अंगों और अवयवों में पहुंच कर कार्य करती है। यही भाव (स इत् देवेषु गच्छति) " वह यज्ञ देवों में पहुंचता है " इस वाक्यसे व्यक्त किया है। आत्माग्नि जो यज्ञ करता है, उसका मुख्य प्रबंधकर्ता स्वयं आत्माही है और वह यज्ञ (देवों द्वारा) इंद्रियोंद्वारा होता है, इंद्रियों में उसका प्रभाव पहुंचता है। यह सब हरएक के अनुभव में है।

आधिभौतिक दृष्टिसे संघ में, समाजमे अथवा राष्ट्रमें भी यही भाव दिखाई देता है। नेता लोग जो राष्ट्रीय महा यज्ञ करते है, उसके कर्ता धर्ता सब नेता ही होते हैं और वह राष्ट्रीय पुण्य कर्म सहायक विद्वानों द्वारा चलाया जाता है अथवा उस सामाजिक उन्नतिके सत्कर्म का परिणाम राष्ट्रके अवयवों पर ही होता है। आधिदैविक दृष्टिसे जगत् में तैजस शक्तिसे जो विलक्षण कार्य हो रहे है, वे भी तैजस् शक्तिका महत्व बता रहे है और उनका परिणाम पृथिवी, जल, वायु आदि देवताओंपर निःसंदेह हो रहा है। तीनों स्थानों में इस बातकी सार्वत्रिकता देखने योग्य है। (१) **अपना संरक्षण, (२) शत्रुशक्तिका पराभव, आत्मशक्तिका विजय, (३) अपनी उन्नति और स्वकीय शक्तिका विकास, (४) सहाय्य कर्ताओंका संघीकरण और उनका पोषण,** यही मुख्य बातें है, जो इस मंत्रसे ध्वनित होतीं है। जिस व्यक्तिमें और जिस राष्ट्रमें ये होतीं रहेंगी, उसका संरक्षण होगा, और जहां न होगीं, वहां नाश होगा। इस लिये सबको उचित है कि, इसप्रकार अपनी उन्नति के लिये हरएक प्रयत्न करे। अब द्विरुक्तिका विचार करना है—

(१) मधुच्छंदा वैश्वामित्रः। अग्निः।

विश्वतः परिभूरसि ॥ ऋ. १।१।४।

(२) कुत्स आंगिरसः। अग्निः शुचिः।

त्वं हि विश्वतो मुखो "**विश्वतः परिभूरसि** ॥"

अप नः शोशुचदघम् ॥ ऋ. १। ९७।६

दो विभिन्न ऋषियोंके मंत्रोंमें "**विश्वतः परिभूः असि**" (सब प्रकारसे सर्वोपरि है) यह वाक्य द्विरुक्त हुआ है। अग्निका सर्वतोपरि शासक होना इस द्विरुक्तिसे व्यक्त होता है। सबका नियामक आत्मा होनेसे यहां विशेषतया आत्माग्नि ही वक्तव्य है, इसकी सिद्धता पहिले हो चुकी है। आत्माका वर्णन भी इन्ही शब्दोंसे ईशोपनिषद् में हुआ है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपाप-विद्धं। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ वाय४०।८;ईश.८

"वह आत्मा (पर्यगात्) व्यापक है और (शुक्रं) वीर्यरूप, देहरहित, व्रणहीन, स्नायुहीन, शुद्ध, निष्पाप, कवि, बुद्धिमान्, (परिभूः) सबका नियंता, तथा (स्वयंभूः) स्वयंसिद्ध है। वह शाश्वत कालसे यथा योग्य रीतिसे सब अर्थों को करता आया है।" वही आत्माग्निका यज्ञ जो शाश्वत कालसे चल रहा है, इस ऋग्वेदके प्रथम सूक्तमें वर्णन किया है। "**परिभू, कवि,**" आदि शब्द इस सूक्तमें आगये हैं; अग्निका नाम "**पावक, शुचिः**" प्रसिद्ध है, इस नाममें "शुद्ध" शब्दका भाव आगया है। वह स्वयं "अ—पाप—विद्ध" अर्थात् निष्पाप है, इतनाही नहीं परंतु वह (**नः अघं अप शोशुचत्**। ऋ. १।९७।६) वह हमारे पापको दूर करके हमको भी पवित्र करता है अर्थात् वह स्वयं शुद्ध है और दूसरोंको भी पवित्र करता है। वह एक देशी नहीं है परंतु वह (पर्यगात्) सर्वत्र है,

यही भाव (त्वं हि विश्वतो मुखः) "तू सर्वत्र मुख वाला है" इस कथनमें व्यक्त हुआ है। एक देवता का वर्णन वेदमें निम्न प्रकार आया है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ॥
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः
द्यावाभूमी जनजन् देव एकः ॥ ऋ. १०।८१।३

"जिस एक देवके (विश्वतः चक्षुः) सर्वत्र आंख, (विश्वतः मुखः) सर्वत्र मुख, सर्वत्र बाहु और सर्वत्र पांव है, जो बाहुओंसे और पंखोंसे सबका धारण और नियमन करता है, वही द्युलोक और पृथिवीको उत्पन्न करता है।" इस मंत्रका "**विश्वतो मुखः**" शब्द इस आत्माग्निके वर्णनमें इस मंत्रमें है। आत्माकी सर्व व्यापकता इस मंत्रसे बताई है, अग्नि भी सब जगत्के सब पदार्थोंमें विद्यमान है, देखिये—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥ एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ कठ उ. ५।९

"जिस प्रकार एकही अग्नि सब भुवनमें प्रविष्ट हो कर प्रत्येक रूपमें प्रतिरूप हुआ है, वैसाही एक सब भूतोंका अंतरात्मा प्रत्येक रूपमें प्रतिरूप हुआ है और बाहिर भी है।" यहां प्रसंगतः अग्निके विषयका उपनिषदोंका मंतव्य देखने योग्य है—

(१) **एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलति ॥** कौ. उ. १२
(२) **यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरः ॥** मैत्री. उ. २।६

(३) प्राणोऽग्निः परमात्मा ॥ मैत्री. ६।९; प्राणाग्नि. २
(४) प्राणोऽग्निरुदयते ॥ मुंड. २।१।७; प्रश्न. १।७
(५) अग्निर्ह वै प्राणः ॥ जाबा. ४
(६) अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ॥
मंत्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ भ.गी.९।१६

"(१) यह ब्रह्मही प्रकाशता है जो अग्नि जलता है, (२) जो पुरुष है वही वैश्वानर अग्नि है, (३) प्राण अग्नि परमात्मा है, (४) यह प्राण अग्निही उदय पाता है, (५) प्राण ही निःसंदेह अग्नि है, (६) (अहं) मै आत्माही क्रतु, यज्ञ, स्वधा, औषध, मंत्र, आज्य, अग्नि और हवन हूं ॥" इन उपनिषदोंके कथनके साथ निम्न उपनिषद्वाक्य देखिये—

(१) पुरुषो वाव गौतमाग्निः, तस्य वागेव समित्, प्राणो धूमो, जिह्वा अर्चिः, चक्षुरंगाराः, श्रोत्रं विस्फुलिंगाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥ ७ ॥
(२) योषा वाव गौतमाग्निः, तस्या उपस्थ एव समित्, यदुपमंत्रयते स धूमो, योनिरर्चिः, यदन्तः करोति ते अंगाराः, अभिनंदा विस्फुलिंगाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुते गर्भः संभवति ॥ २ ॥ ८ ॥ छां. उ. ५.।१२

यही कथन थोडेसे भिन्नत्वके साथ बृहदारण्यकमें आया है, वह भी यहा देखिये—

(१) पुरुषो वाऽग्निर्गौतम, व्यात्तमेव समित्, प्राणो धूमो, वागर्चिः, चक्षुरंगाराः, श्रोत्रं विस्फुलिंगाः, तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥ १२ ॥

(१) योषा वा अग्निर्गौतम, तस्या उपस्थ एव समित्, लोमानि धूमो, योनिरर्चिः, यदन्तः करोति ते अंगाराः, अभिनंदा विस्फुलिंगाः, तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति, स जीवति यावज्जीवति ॥ १३ ॥ बृ. आ. ६ । २

"(१) पुरुष अग्नि है, इसमें अन्नका हवन होता है, इस हवन से रेतकी उत्पत्ति होती है; (२) स्त्री अग्नि है, इस में रेतका हवन होता है, इस हवनसे बालक उत्पन्न होता है ।" इस वर्णनसे पता लग सकता है कि किस अपूर्व अलंकार से अग्निकी विभूति स्थान स्थानमें देखनी होती है, और वहां का भाव समझना होता है । स्त्री रूप अग्निमें जिस समय आत्मा आता है उस समय वह त्रैलोक्यके संपूर्ण देवोंको अपने साथ बुलाता है और उनके साथ " अंशावतार " लेता है । यही बालक है । बालक का जन्म होते ही उसके शरीरमें यह शतसावत्सरिक क्रतु करने लगता है, जो भोग इसको दिये जाते है, वे उस उस देवता तक पहुंचता है। रूपके भोग आंखमे रहनेवाले सूर्यके अशको देता है, सुं‧ गंधके भोग नासिका निवासी अश्विनी देवोको देता है, रुचिके भोग जिव्हानिवासी जलदेव वरुणको देता है, स्पर्शके भोग वायुको

पहुंचाता है, इसी प्रकार अन्यान्य भोग अन्यान्य देवताओंके अंशोंके द्वारा उस उस देवतातक पहुंचाता है। यही इस आत्माग्निका दूत्य है। अग्नि दूत होनेका वर्णन आगे अनेक सूक्तोंमें आनेवाला है, इस लिये पाठक इस विषयको ठीक प्रकार समझनेका यत्न करें। यदि यह बात ठीक रीतिसे ध्यानमें आगई, तो आत्माग्निका यज्ञ (देवेषु गच्छति) देवोंतक कैसा पहुंचता है, इसका ठीक विज्ञान हो सकता है। अपने शरीरमें ही यह यज्ञ पाठक देख सकते है, वेदको अभीष्ट है कि पाठक इस यज्ञको अपने अंदर अनुभव करें। यही आत्माग्नि सब देवोंका केंद्र है, देखिये—

(१) अग्ने नेमिरराँ इव देवांस्त्वं परिभूरसि ॥

ऋ. ५।१३।६

(२) स होता विश्वं परि भूत्वध्वरं ॥ ऋ. २।२।५

“ (१) हे अग्ने ! जैसे चक्रकी नाभिमें आरे होते हैं वैसे देव तेरे में है, और देवोका तू नियामक है। (२) वही अग्नि हवन कर्ता है और सब (अ-ध्वरं) यज्ञका प्रबंध कर्ता है। ” इन मंत्रोंसे अग्नि शब्द आत्माग्निका ही मुख्यतया वाचक है, यह बात ध्यानमें ठीक प्रकार आसकती है। पूर्वोक्त भगवद्गीताके श्लोकमे “ मैं (आत्माग्नि) यज्ञ हूं, और मैं ही अग्नि, घी, मंत्र, तथा हवन भी मैं ही हूं ” (गी. ९।१६) यह बात ध्यानमें धर कर इस सूक्तका कथन देखिये—“ अग्नि यज्ञका देव, पुरोहित, होता और ऋत्विज्, आदि है। ” दोनोंका एकही तात्पर्य है। दोनोंको आत्माकाही वर्णन भिन्न रीतिसे करना है। यह आत्माग्नि यहां इस देहमें सब

देवोंको लाता है, और सौ वर्ष तक यज्ञ करनेका यत्न करता है। यह आत्माग्नि जो यह यज्ञ करता है, वह यज्ञ निःसंदेह देवोंतक पहुंचता है। पूर्वोक्त स्पष्टीकरणसे यह कथन अब पाठकोंको प्रत्यक्ष हुआही होगा।

यहां आत्माग्नि मुख्य केंद्र है, और अन्य देव उसके साथी है। ये साथी उसको यथा शक्ति सहाय्यता करते है। यद्यपि आत्माकी शक्तिके बिना आंख, नाक, कुछ भी कार्य नहीं कर सकते, तथापि आंखके विना देखना तथा अन्य इंद्रियोंके विना अन्य अनुभव लेना आत्माके लिये अशक्य है। इसलिये (१) आत्मा सम्राट् है, और ये अन्य देव उसके मांडलिक राजे है। ये मांडलिक राजे अपने देशके उत्पन्नका करभार सम्राट्को देते है, और सम्राट्ही उनको यथायोग्य प्रसाद देता है। अथवा (२) अन्य देव इसके सेवक है अपना कार्य करनेद्वारा उसकी सेवा करते है और वह भी उनको यथा योग्य वेतन देता है। अथवा (३) ये देव उसके मित्र है, वे इसकी सहाय्यता करते हैं और वह भी अपना धन उनको वांटता है। किंवा (४) वह यज्ञ करने वाला है और ये ऋत्विज् है, ये उसका यज्ञ यथा योग्य रीतिसे करते है और वह भी इसको योग्य दक्षिणा देता है। कोई अलंकार लीजिये, ये तथा बहुतसे अन्य अलंकार वेदमें स्थान स्थानमें आगये हैं, सब अलंकारोंका तात्पर्य एकसा ही है। (स इत् देवेषु गच्छति) वह यज्ञ देवोंमें पहुंचता है, इसका तात्पर्य उक्त प्रकार है। यदि किसीने किसीसे सेवा ली, तो उसको उचित है कि, वह सहायकर्ताका ऋण प्रत्युपकार द्वारा वापस करे, यह बोध यहां मिलता है।

" स देवानेह वक्षति । " इस प्रथम मंत्रके कथनमें पता लगा है, कि " आत्माग्नि देवोंको यहां लाता है । " इसका शब्द सुनकर सब देव अंशरूपसे आते हैं, अथवा अपने अपने सूक्ष्म अंशोंको भेजते हैं । सब देव आनेके पश्चात् इसका यज्ञ शुरू होता है और यज्ञमें यह आत्माग्नि " (स इत् देवेषु गच्छति) " सब देवोंको यथायोग्य यज्ञ भाग देता है । परस्पर सहाय्यता करनेका यह बोध हरएक मनुष्यको देखना चाहिये और इस प्रकार परस्पर सहायता करके संघशक्तिद्वारा अपनी उन्नति करनी चाहिये । यहां यह विशेष रूपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, यह शरीर देवोंके " **संघका ही कार्य** " है, इस प्रकार जो अभेद्य संघ बनायेंगे, वे भी विलक्षण शक्तिसे युक्त होकर उन्नत हो जांयगे । आशा है कि, इस प्रकार विचार करके पाठक भी अधिकाधिक बोध लेनेका यत्न करेंगे । अब पंचम मंत्रका विचार करेंगे—

॥ पंचम मंत्र ॥ ५ ॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ॥
देवो देवेभिरागमत् ॥ ५ ॥

" दाता, ज्ञानी और पुरुषार्थी, सच्चा, विलक्षणयशस्वी और दिव्य अग्नि देवोंके साथ आ जावे । " इस मंत्रके प्रथम दो पादोंमें अग्निका स्वरूप निश्चित करनेके लिये उपयोगी शब्द बहुत है । सबसे पूर्व " होता " शब्द है । इसका विचार प्रथम मंत्रके स्पष्टीकरणमें किया है । वहांही पाठक इसका आशय देखें । " होता " शब्दका अर्थ " दाता, आदाता और आह्वान करनेवाला " ऐसा तीन भावोंमें होता

है। इनका विचार पहिले हो चुका है। इसका और एक अर्थ है जिसका आशय " हवन करनेवाला " ऐसा होता है। आत्माग्निका हवन इंद्रियाग्निमें हुआ करता है, इसका आलंकारिक वर्णन भगवद्गीतामें बडी उत्तमताके साथ आगया है—(भ. गी. ४)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥ २४ ॥
श्रोत्रादीनींद्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुव्हति ॥
शब्दादीन् विषयानन्य इंद्रियाग्निषु जुव्हति ॥२६॥
सर्वाणींद्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ॥
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुव्हति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

" अर्पण करनेकी क्रिया ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म अग्निमें ब्रह्मने हवन किया है। इस प्रकार जिसकी बुद्धिमें सभी कर्म ब्रह्ममय हैं उसको ब्रह्म ही मिलता है ॥ और कोई श्रोत्र आदि इंद्रियों का संयमरूप अग्निमे होम करते है और कुछ लोग इंद्रियरूप अग्निमें शब्द आदि विषयोंका हवन करते है ॥ और कुछ लोग इंद्रियों तथा प्राणों के सब कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयमरूप योगाग्निमें हवन किया करते हैं ॥ इस वर्णनमें " ब्रह्मयज्ञ " का विषय और स्वरूप लिखा है। जिस यज्ञमें यज्ञकर्ता, अग्नि, हविर्द्रव्य, आदि सब " ब्रह्म "ही है, उसको ब्रह्मयज्ञ कहते है। अपने प्रचलित विषयमें " अग्नि " ही (होता) हवन कर्ता है, पुरोहित, ऋत्विज्, यज्ञका देव आदि सब है। इसलिये गीताके " ब्रह्मयज्ञ " का रूपक और यह " अग्नियज्ञ " का रूपक एकही स्वरूपका है। ऋग्वेद

सूक्तोंमें "अग्नि" शब्दसे वर्णन हुआ है और भगवद्गीतामें "ब्रह्म" शब्दसे वर्णन हुआ है। ये सब शब्द एकही सद्वस्तुके दर्शक है, इसलिये शब्दभेदसे वक्तव्य भेद नहीं होता है।

यह आत्मा (होता) हवन कर्ता है। यह अपने श्रोत्रादिक सब इंद्रियोंको "**संयमाग्नि**" में हवन करता है, और संयमी बनकर अभ्युदयको प्राप्त करता है। शब्दादि सब विषयोंको यही "**इंद्रियाग्नि**" में हवन करता है और उपभोग लेकर सुखी होता है। तथा सब इंद्रिय कर्मोंको और प्राणकर्मों को "**योगाग्नि**" में हवन करके योगी बनता है और स्वाधीनता प्राप्त करता है। हवन किसी प्रकारका हो, यही हवन कर्ता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है।

साधारण सुबोध भाषामें बोलना हो, तो इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह आत्मा इंद्रियोंको विषयभोग देता है, यही उसका इंद्रियाग्निमें हवन है और इसीलिये इसको "होता" कहते है। हवन किये पदार्थ वह देवों तक पहुंचाता है, इसका यही तात्पर्य है। "देव" शब्दका अध्यात्म दृष्टिसे अर्थ "इंद्रिय" ही है। जो आत्माका इंद्रियोंसे संबंध है, वही ब्रह्माग्निका अन्य देवोंसे है। ब्रह्माग्नि, आत्माग्नि और अग्नि सांकेतिक दृष्टिसे एकही पदार्थ है।

(कवि-क्रतुः) ज्ञानी और पुरुषार्थी "अग्नि" अर्थात् आत्माग्नि है। आत्माका चित् स्वरूप सुप्रसिद्ध है तथा चेतन आत्मा सबका प्रेरक होनेसे सब पुरुषार्थोंका प्रवर्तक निःसंदेह है। "कवि" शब्दका अर्थ ज्ञानी, बुद्धिमान् और शब्दप्रेरक है। इसलिये कहा है कि—

अग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् ॥ ऋ. १०।९१।३
अग्ने कविर्वेधा असि ॥ ऋ. ८।१०।२

" हे अग्ने ! तू कवि है और अपने काव्यसे (विश्व-वित्) सर्व-ज्ञ है ॥ हे अग्ने ! तू कवि और (वेधाः) ज्ञानी है । "

यह अग्निका वर्णन उसके " आत्माग्नि " होनेकी सिद्धता कर रहा है। क्यों कि (विश्व-वित्) सर्वज्ञत्व एक आत्मामें ही संभवनीय है । कवि काव्य करता है, और सर्वज्ञ कविका काव्यभी सर्वज्ञानसे परिपूर्ण होना संभवनीय है । इसीलिये परमात्माका " शब्द " प्रमाण माना जाता है । आत्माभी शब्दका प्रेरक ही है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुंक्ते विवक्षया ॥
मनः कायाग्निमाहंति स प्रेरयति मारुतम् ॥ ६ ॥
मारुतस्तूरसि चरन् मंद्रं जनयति स्वरम् ॥ ७ ॥
सो दीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पंचधा स्मृतः ॥ ९ ॥

—पाणिनीय शिक्षा ।

" आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर अर्थकी प्रेरणा मनमें करता है, मन शरीरकी उष्णता पर आघात करके वायुको प्रेरित करता है । वह वायु छातिसे ऊपर चलने लगता है उस समय सूक्ष्म स्वर उत्पन्न करता है, यही स्वर मुखमें विविध स्थानोंमें आकर विविध वर्णोंमें परिणत होता है । " इसप्रकार आत्मा शब्दका प्रेरक है, इसलिये " कवि " है । आत्माग्नि का कवि होना इसप्रकार शास्त्र-सिद्ध है । उपनिषदोंमें भी कहा है—

(१) केनेषितां वाचमिमां वदन्ति ?
(२) वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः ॥
(३) यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि० ॥ केन उ. १।१-४

“ (१) किससे प्रेरित हुई वाणी बोलते है ? (२) (वह प्रेरक) वाणीकी वाणी और प्राणका प्राण है (३) जो वाणीसे प्रकाशित नहीं होता, परंतु जिससे वाणी प्रेरित होती है, वह ब्रह्म है, ऐसा तू जान । ” इससे स्पष्ट है कि आत्माग्नि ही वाणीका प्रेरक है। इसीलिये इसको कवि कहते है । इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

(१) युवा कविरध्वरस्य प्रणेता ॥ ऋ. ३।२३।१
(२) अहं कविरुशना पश्यता मा ॥ ऋ. ४।२६।१
(३) युवा कविः पुरुनिःष्ठ ऋतावा धर्ता कृष्टीनामुत मध्य इन्द्रः ॥ ऋ. ५।१।६
(४) अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि ॥ ऋ. ७।४।४
(५) अमूरः कविरदितिर्विवस्वान् त्सु सं सन्मित्रो अतिथिः शिवो नः ॥ ऋ. ७।९।३
(६) सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः ॥ ऋ. ३।१४।१
(७) होता मंद्रः कवितमः पावकः ॥ ऋ. ७।९।१

“ (१) यह जवान कवि यज्ञका चालक है, (२) मैं ही इच्छा करनेवाला कवि हूं मुझे देखिये, (३) जवान कवि (पुरु+निः

ष्ठः) सब पदार्थोंमें स्थित, सत्यवान, (कृष्टीनां धर्ता) प्रजाओंका धारण करनेवाला और मध्यमें प्रदीप्त है, (४) यह (अ–कविषु कविः) शब्द न करनेवालोंमें शब्द कर्ता है, (प्र–चेता) चेतन और यही मर्त्योंमें अमृत है, (५) यह (अ-मूरः) मूढ नहीं है, कवि, (अ–दितिः) अमर्याद, (विवस्वान्) सबका निवासक, उत्तम मित्र, (अ–तिथिः) जिसकी आनेकी तिथि निश्चित नहीं होती, ऐसा और (शिवः) कल्याणकारी है, (६) सत्य, याजक श्रेष्ठ कवि और (वेधाः) ज्ञानी है, (७) यह हवनकर्ता, हर्ष-कारक, श्रेष्ठ कवि और (पावकः) पवित्रकर्ता अग्नि है। "

इन मंत्रोंमें " **कवि** " शब्द है और उसका शब्दकी उत्पत्ति-के साथ ही संबंध है। (अहं कविः) " मै कवि हूं " ऐसा अध्यात्म वचन है, इस का स्पष्टभाव है कि, मै इंद्र कवि हूं, जिसका दूसरा नाम अग्निभी है, क्यों कि एकही सद्वस्तुको अग्नि, इंद्र, आदि अनेक नाम ज्ञानी देते है। यह कवि अग्नि (युवा) जवान है। जो अज और अनंत होता है उसको ही " युवा " कहते है। आत्माही अजन्मा और अविनाशी है इसलिये युवाभी है। यह " पुरु+निःष्ठ " सबमें व्याप्त है। (कृष्टीना धर्ता) प्रजाओंका धारणपोषणकर्ता यही है। (अ–कविषु कविः) शब्द न करनेवालोंमें यह शब्द उत्पन्न करनेवाला है, जडोंमें यह वक्ता है, शरीरके मूक जड अवय-वोंमें यही एक शब्द बोलनेवाला है और यही (मर्त्येषु अमृतः) मरनेवालोंमें अमर है। सब शरीर मरता है और उसमे यही एक आत्मा अमर है। यह ऐसा है कि (अ-तिथिः) जिसकी तिथि

निश्चित नहीं है, जिसके आनेकी और जानेकी तिथि निश्चित नहीं है, जन्म और मरणकी तिथि इस आत्माकीहि निश्चित नहीं है। इस प्रकारका यह अग्नि निःसंदेह " आत्माग्नि " ही है। उक्त शब्द यदि किसीका सत्य वर्णन कर रहे है, तो वह निःसंदेह आत्माग्नि ही है, क्यों कि उक्त शब्दोंकी सार्थकता आत्माग्निमेंही होती है। अस्तु इस प्रकार यह आत्माग्नि कवि है।

यह " ऋतु " अर्थात् " यज्ञ " भी है। क्यों कि " पुरुषार्थ " ही इसका स्वरूप है। सतत पुरुषार्थ इसका निजधर्म है। " **पुरुषो वाव यज्ञः** " (छां. उ. ३।१६) पुरुष अर्थात् आत्मा यज्ञस्वरूपही है। इसलिये उसको " **क्रतु** " तथा " **शत-ऋतु** " कहते हैं। " ऋतु " शब्दका दूसरा अर्थ " प्रज्ञा " है। ज्ञान रूप चित्स्वरूप होनेसे इसके भावमें यह अर्थ भी योग्य हो सकता है।

" **कवि-ऋतु** " का दूसरा अर्थ " क्रांत-प्रज्ञ " अर्थात् " विशेष ज्ञानी " है। यह अर्थ भी पूर्व अर्थोंके साथ सुसंगतही है।

" **सत्यः** " यह इस मंत्रका शब्द विशेष महत्वपूर्ण है। इसका भाव " तीनों कालोंमें विद्यमान " ऐसा होता है। यह आग भूतकालमें नहीं होती, बीचमें जलती है और फिर बुझ जाती है, तीनों कालोंमें एकरूपमें नहीं रहती, परंतु यह आत्मा तीनों कालोंमें समरस रहता है। यद्यपि गुप्त व्यापक अग्नि सर्वदा विद्यमान होता है तथापि इस अग्निका अग्निपनभी तो उस आत्मापर अवलंबित है, क्यों कि इस अग्निका अग्निही यह " आत्माग्नि " है। " सत, सत्य " ये शब्द एक सत्यस्वरूप आत्माकेही मुख्यतया वाचक है।

" चित्र+श्रवः+तमः " विलक्षण यशासे युक्त। यह शब्द मुख्य वृत्तिसे आत्माग्निकाही वर्णन कर रहा है। देखिये इसका वर्णन—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः॥ आश्चर्यवच्चैवमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ म. गी. २।२९

" कोई तो आश्चर्य समझकर इसकी ओर देखते है, कोई आश्चर्य सरीखा इसका वर्णन करता है, कोई आश्चर्यसे सुनता है, परंतु सुन कर भी कोई इसे जानता नहीं है।" इसप्रकार आत्माग्निके अपूर्व यशका गुणगान सब शास्त्र कर रहे हैं। इस प्रकारकी यह अद्भुत वस्तु है। अस्तु। इतना विवेचन चतुर्थ मंत्रके प्रथम दो पादोंका हुआ और इससे निश्चय हुआ है कि, यह मुख्यतया आत्माग्निका ही वर्णन है और गौणवृत्तिसे अन्य पदार्थोंका वर्णन है।

आधिभौतिक दृष्टिसे समाज और राष्ट्रमें मनुष्यकोभी इसी प्रकार वर्ताव करना चाहिये। सूज्ञ मनुष्य (अग्निः) अग्निके समान तेजस्वी, (होता) दाता, यज्ञ करनेवाला, (सत्यः) सच्चा, सत्याग्रही, सत्यनिष्ठ, (चित्र-श्रवः-तमः) विलक्षण यशस्वी बने और अनुकरणीय बनकर सबका चालक बने। इस रीतिसे येही शब्द मनुष्यके सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंके बोधक है। इस प्रकार दो पादोंका स्पष्टीकरण करनेके पश्चात् अत्र विशेष महत्वका तृतीय पाद देखना है—

देवो देवेभिरागमत्॥ ऋ. १।१।५

" यह एक देव अन्य सब देवोंके साथ आजावे । " इस विषयमें जो वक्तव्य है वह " स इद्देवेषु गच्छति । " ऋ. १।१।४ तथा " स देवान् एह वक्षति ।" ऋ. १।१।२ इनकी व्याख्या करते हुए कहा ही है ।

(१) स देवान् इह आवक्षति = वह देवोंको यहां लाता है ।
(२) स देवेषु इत् गच्छति = वह देवोंमें पहुंचता है ।
(३) देवो देवेभिः आगमत् = देव देवोंके साथ आजाय ।

इन तीनों कथनोंमें एकही विशेष भाव है । एक आत्माका अन्य देवोंके साथ जो संबंध है, वही यहां बताया है । इसका स्वरूप ठीक ठीक ध्यानमें आनेके लिये निम्न मंत्रोंका विचार करना आवश्यक है—

(१) अग्निर्देवेभिरागमत् ॥ ऋ. ३।१०।४
(२) विश्वेभिः देवेभिर्याहि यक्षि च ॥ ऋ. १।१४।१
(३) देवेभिरग्न आगहि ॥ ऋ. १।१४।२
(४) क्षयं बृहन्तं परिभूषति द्युभिर्देवेभिरग्निः ॥
ऋ. ३।३।२
(५) अग्निर्देवेभिर्मनुषश्च जंतुभिस्तन्वानो यज्ञं पुरुपेशसं धिया ॥ ऋ. ३।३।६
(६) गमद्देवेभिरा स नो यजिष्ठः ॥ ऋ. ३।१३।१
(७) देवेभिर्देव सुरुचा रुचानः ॥ ऋ. ३।१५।६
(८) अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्महया गिरः ॥
ऋ. ३।२४।४

(९) अग्ने विश्वेभिरागहि देवेभिर्हव्यदातये ॥
ऋ. ५।२६।४

(१०) देवेभिरग्ने अग्निभिरिधानः ॥ ऋ. ६।११।६

(११) त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ ऋ. ६।१६।१

(१२) आ नो देवेभिरुप देवहूतिमग्ने याहि ॥
ऋ. ७।१४।३

(१३) यो भानुभिर्विभावा विभात्यग्निर्देवेभिर्ऋता-
वाजस्रः ॥ ऋ. १०।६।२

"(१) देवों के साथ अग्नि आया है; (२) सब देवोंके साथ आओ और यजन करो, (३) हे अग्ने ! तू देवोंके साथ आ, (४) अग्नि सब तेजस्वी देवोंके साथ बडे (क्षयं) निवासस्थानको भूषित करता है, (५) देवोंके साथ और मनुष्यके संतानों के साथ बुद्धिसे त्रिविध रूपवाला यज्ञ अग्नि फैलाता है, (६) पूज्य अग्नि देवोंके साथ हमारे पास आता है, (७) हे देव ! अनेक देवोंके साथ तूं तेजसे तेजस्वी है, (८) हे अग्ने ! सब अग्निरूप देवोके साथ वाणीको बढाओ, (९) हे अग्ने ! सब देवोंके साथ अन्नदानके लिये आओ, (१०) हे अग्ने ! तू सब अग्निरूप देवोंसे प्रदीप्त होता है, (११) हे अग्ने ! तू मानवी जनोंमें सब यज्ञोंका हित-कारक और सब देवोंके साथ हवन करनेवाला है, (१२) हे अग्ने ! सब देवोंके साथ हमारे यज्ञमें आओ, (१३) जो तेजस्वी अग्नि तेजस्वियोंके साथ चमकता है।"

इत्यादि मंत्रोंमें भी अनेक देवोंके साथ अग्निका रहना वर्णन किया है। "अनेक अग्नियोंके साथ अग्नि (अग्निभिः अग्निः) आता है" यह इन मंत्रोंका वर्णन स्पष्टतासे सिद्ध कर रहा है कि, यहां अग्नि शब्द विशेष अर्थसे प्रयुक्त हुआ है, और केवल आगका ही वाचक नहीं है। इसी प्रकार देवतावाचक अन्य शब्दोंका भी उपयोग किया है, देखिये—

देवता इंद्र—

(१) स वह्निभिर्ऋक्वभिर्गोषुशश्वन् मितज्ञुभिः पुरुकृत्वा जिगाय ॥ पुरः पुरोहा सखिभिः सखीयान् दृळ्हा रुरोज कविभिः कविः सन् ॥ ऋ. ६।३२।३

(२) इंद्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभि देवेभिः। तिरस्तवान विश्वते ॥ ऋ. ३।४०।३

(३) प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः ॥ ऋ. ३।४६।३

देवता अश्विनौ—

(१) आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ॥ ऋ. १।३४।११

(२) आ नो देवेभिरुप यातमर्वाक् सजोषसा नासत्या रथेन ॥ ऋ. ७।७२।२

(३) आ....गतं ॥ देवा देवेभिरद्य सचनस्तमा ॥ ऋ. ८।२६।८

इंद्र देवता के मंत्र=(१) (पुरु—कृत्वा) विविध कर्म करने-वाला वह इंद्र (शश्वत्) सर्वदा (मित—ज्ञुभिः वह्निभिः ऋक्भिः) घुटनोंके बल बैठनेवाले अग्निके समान तेजस्वी उपासकोंके साथ (गोषु) गौवों, इंद्रियों और भूमि आदिकोंके संबंधमें (जिगाय) विजय प्राप्त करता है। (पुरो—हा) शत्रुके नगरोंका नाश करनेवाला (सखिभिः कविभिः) मित्ररूप कवियोंके साथ (सखीयन् कविः) मित्रता करनेवाला कवि (दृढा पुरः) बलयुक्त नगरोंका (रुरोज) भेदन करता है ॥ (२) हे (विश्+पते इंद्र) प्रजापालक प्रभो ! (नः धिता+वानं यज्ञं) हमारे उत्तम उपकारी यज्ञको (विश्वेभिः देवेभिः) सब देवोंके साथ (प्र तिरः) पूर्ण करो ॥ (३) यह इंद्र (रोचमानः) तेजस्वी होता हुआ (मात्राभिः) सब प्रमाणोंसे (प्र रिरिचे) विशेष तेजस्वी हुआ है और (देवेभिः) देवोंके साथ (विश्वतः) सब प्रकार से (अ-प्रतीतः) पीछे हटनेवाला नहीं है ॥

अश्विनी देवताके मंत्र=(१) (त्रिभिः एकादशैः देवेभिः) तीन गुणा ग्यारह देवोंके साथ, हे अश्विदेवो ! यहां मधुपान केलिये आइये ॥ (२) हे (नासत्या) अश्विदेवो ! देवोंके साथ रथमें बैठकर वेगसे हमारे पास आइये ॥ (३) हे (सचनस्तमौ देवौ) पूज्य देवो ! अन्य देवोंके साथ यहां आइये ॥

अग्नि, इंद्र और अश्विनी देवताओंके मंत्र ऊपर दिये हैं, उनको देखनेसे पता लग सकता है कि वाक्य कैसे समान भावके ही हैं; देखिये—

अग्नि देवता—

देवो देवेभिः आगमत् ॥ ऋ. १।१।५

अग्निः देवेभिः आगमत् ॥ ऋ. ३।१०।४

अग्ने, अग्निभिः देवेभिः महय ॥ ऋ. ३।२४।४

भानुभिः देवेभिः अग्निः विभाति ॥ ऋ. १०।६।२

इंद्र देवता—

वह्निभिः सः गोषु जिगाय ॥ ऋ. ६।३२।२

पुरोहा सखिभिः सखीयान् रुरोज ॥ ऋ. ६।३२।३

कविभिः कविः पुरः रुरोज ॥ ऋ. ६।३२।३

अश्विनी देवता—

त्रिभिरेकादशैः देवैः आयातं ॥ ऋ. १।३४।११

नासत्यौ देवेभिः आयातं ॥ ऋ. ७।७२।२

देखिये भिन्न शब्दोंसे किस प्रकार एकही भाव व्यक्त किया गया है। " इंद्र " शब्द " आत्मा " अर्थ में सुप्रसिद्ध है क्यों कि " इंद्रिय " शब्द इंद्रशक्तिका वाचक आजकलकी भाषामें भी अवयवोंके अर्थमें प्रयुक्त है, अर्थात् " अनेक देवोंके साथ देवोंका राजा इंद्र शत्रुके किले तोडता है " इस वर्णनमें " आत्मा इंद्रियशक्तियोंके साथ विरोधकोंका नाश करता है " यही भाव है। तात्पर्य इंद्रवर्णनसे आत्मवर्णन होनेमें कोई शंका नहीं हो सकती। अश्विनी-देवोंके विषयमें किसीको शंका होना स्वाभाविक है। परंतु " **नास+त्य** " शब्द " **नासिका में रहनेवाला** " प्राण इस अर्थमें प्रयुक्त होता है। " **नास+त्य** " यह विशेषण अश्विनी देवोंका है, इससे इनका

स्थान नासिका है, इसलिये प्राणापान, श्वास उच्छ्वास, आदिकोंका वाचक यह शब्द है इसमें शंका नहीं। यह प्राण अन्य देवोंके साथ शरीरमें आता है और यहां यज्ञ करता है, यह वर्णन पूर्वोक्त अग्निके वर्णन के साथ मिलानेसे पता लग सकता है कि, दोनों वर्णनोंसे एक ही यज्ञका भाव बताया गया है। (देवो देवेभिः आगमत्) " एक देव अनेक देवोंके साथ यहां आता है, यहां यज्ञ करता है, देवोंसे यज्ञ कराता है, देवोंको हविर्भाग देता है, यज्ञसमाप्तिके पश्चात् देवोंके साथ चला जाता है। " यह सब वर्णन यहांही इस शरीरमें देखनेका है। आत्मा इंद्रिय शक्तियोंके साथ यहां आता है, इंद्रियोंसे कार्य कराता है, खाये हुए अन्नसे अंशरूप भोग प्रत्येक इंद्रियतक पहुंचाता है, इस अंशभोगसे इंद्रियस्थानीय देवतागण संतुष्ट होता है और वह इस आत्माको भी सुखी करता है। यह भाव निम्न गीतावचनमें देखिये—

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयंतु वः ॥
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ भ. गी. ३।११

" तुम इस यज्ञसे देवताओंको संतुष्ट करते रहो, और वे देवता तुम्हें संतुष्ट करते रहें। इसप्रकार परस्पर एक दूसरेको संतुष्ट करते हुए दोनों परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो। "

आत्मा और अन्य ३३ देव इतनेही पदार्थ इस जगत् में है। आत्मा स्वयं प्रकाशी सम्राट् है और ३३ देव आत्माके तेजसे प्रकाशित होनेवाले और आत्माके आदेशानुसार अपना नियत कार्य

करनेवाले है। जहां आत्मा जाता है, वहां ये जाते है, जिस प्रकार सम्राट् के साथ ओहदेदारोंको जाना पडता है। अकेला आत्मा कुछ कर नहीं सकता और न सब देव आत्मशक्तिके विना कुछ कर सकते है। इस प्रकार अन्योन्य सहाय्यताकी आवश्यकता है। अन्योन्य संगतिका ही नाम यज्ञ है। परस्पर सहकारितासे वडे वडे कार्य हो सकते है, आत्मा और ३३ देवोंकी सहकारितासे ही यह शरीरका कार्य चल रहा है। इसका इतना महत्व है कि इससे और आश्चर्यकारक घटना जगत् में दूसरी है नहीं। परस्पर सहकारितासे इतने आश्चर्यकारक कार्य होना संभव है। यदि एक देव यहां विगड बैठा तो सब विगाड हो जाता है, तात्पर्य सबसे सहकार्यसेही आनंद होना संभव है।

सहकारिताका इस प्रकार उपदेश यहां मिलता है। मनुष्योंको सहकारितासेही अपनी उन्नति करनी चाहिये। सामाजिक, राजकीय तथा मानवी संघके जो संपूर्ण कार्य है, वे सहकारितासे ही ठीक हो सकते है। परंतु सहकारिता किन मनुष्योमें हो सकती है? इसका उत्तर भी पूर्व मंत्रोंमें दिया है, (देवो देवेभिः॥ ऋ. १।१।५) देवताओंके साथ देवताकी सहकारिता हो सकती है, देवताके साथ शैतानकी सहकारिता होना असंभव है। देवासुरोंका सनातन युद्ध अथवा असुरोंके साथ देवोंकी असहकारिता स्वाभाविक ही है। (सखीयान् सखिभिः ऋ. ॥ ६।२२।३ ॥) मित्रकी मित्रोंके साथ सहकारिता, (कविः कविभिः ॥ ऋ. ६।२२।२) कवि की कवियों के साथ सहकारिता, (अग्निः अग्निभिः॥ ऋ. ६।२२।२) अग्निकी अग्नियोंके

साथ सहकारिता होती है, न कि आगकी जलके साथ सहकारिता कदापि संभवनीय है !! यही सहकारिताका नियम वेदने बताया है। आत्मदेवकी इतर ३३ देवोंके साथ इसलिये सहकारिता होती है कि, दोनोंमें देवत्वकी समानता है। मनुष्योंको चाहिये कि वे इस उपदेशके अनुसार समानोंसे सहकारिता और शत्रुओंसे असहकारिता करके अपनी उन्नति सिद्ध करें। मनुष्य संघशक्तिसे कार्य करने वाला प्राणी है, इसलिये संघ बनानेके नियम जानना, उसके लिये अत्यावश्यक है। अस्तु। इस प्रकार यह पचम मंत्रका विचार किया, अब षष्ठ मंत्रका विचार करेंगे--

॥ षष्ठ मंत्र ॥ ६ ॥
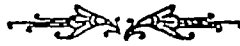
यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ॥
तवेत्तत्सत्यमंगिरः ॥ ६ ॥

"हे अंगोंके प्रेरक प्रिय अग्ने ! तूं दाताके लिये जो मंगल करता है वह तेरा ही सत्य धर्म है।"

इस मंत्रके "**अंग, अंगिरस्**" शब्दोंका भाव इस स्पष्टीकरणके प्रारंभमें देखिये। (**दाशुषे भद्रं करिष्यसि**) दाताका कल्याण करता है, यह अग्निका धर्म है। तेजस्वियोंका यही धर्म है। उदार, दूसरोंकी सहाय्यता करनेवाला, उपकारशील जो होता है, उसका ही कल्याण होता है। धर्मकी यही बुनियाद है। अपने शरीरमें ही

देखिये कैसा परस्पर सहकारित्व और परस्पर उपकार चल रहा है। आंख फल देखता है, पांव वहांतक पहुंचाता है, हाथ फल तोडता है, दांत फलको चबाते हैं, पेट उसका पाचन करता है, नस नाडियां अन्नरसके खूनको हरएक अवयवमें पहुंचाती है, इस प्रकार एक दूसरेके लिये दान दिया जाता है। इससेही सब शरीरका भला होता है। यदि पांवने चलनेसे इनकार किया, अथवा पेटने पाचन करनेका कार्य स्थगित किया, तो सब शरीर मर जायगा। पाठक इस रीतिसे अपने शरीरके अवयवोंकी परस्पर सहकारिता और परस्पर उपकार देखें, और यह परस्पर उपकारका बोध लेकर अपने समाज और राष्ट्रके व्यवहारोंमें उसका उपयोग करें। संघशक्ति चाहिये तो परस्पर उपकार करनेका गुण अवश्य चाहिये। परस्पर उपकारका भाव न होगा, तो संघशक्ति कदापि रह नहीं सकती।

जिस प्रकार मस्तिष्क ज्ञानका कार्य करके शरीरका उपकार करता है, उसी प्रकार हाथ शरीरका संरक्षण करके शरीरका भला करता है और पांव इसका बोझ सहन करके, इसको इधर उधर ले जाकर इसका कल्याण करता है। किसीएक का कार्य बंद होनेसे शरीरपर उतनी आपत्ति ही आती है। इसी रीतिसे राष्ट्रमें ब्राह्मण ज्ञानका कार्य करके, क्षत्रिय शौर्यसे रक्षण करके, वैश्य खेती पशुपालन और व्यौपार करके, तथा शूद्र अपनी कारीगरीसे राष्ट्रका भला कर सकता है। यही चातुर्वर्ण्यका परोपकार है। ठीक इस प्रकार जिस राष्ट्रमें परोपकार होता रहेगा, सबके कल्याणका भाव जिस राष्ट्रमें जीवित और जागृत होगा, उस राष्ट्रकी सदा उच्च अवस्थाही होगी।

परंतु जिस राष्ट्रमें एक वर्ण दूसरेका नाश करनेमें प्रवृत्त होगा, वहा अवनति ही रहेगी। उत्कर्ष अपकर्ष का यह सनातन नियम है।

" यज्ञ " में श्रेष्ठोंका सत्कार, सबकी एकता और परस्पर उपकार होनेके कारण यज्ञ राष्ट्रीय उद्धारका हेतु है, ऐसा वैदिक धर्मी अनादि कालसे मानते आये हैं। " यज्ञ और दान " का यही तात्पर्य है। यह अपने शरीरमें प्रत्यक्ष हो रहा है, उसको देखकर अपने राष्ट्रीय व्यवहार में उसीके अनुसार कार्य करने चाहिये। तभी उन्नति होगी। इसप्रकार परस्पर सहाय करनेका उच्च उपदेश इस मंत्रसे ध्वनित हुआ है। अब अगला मंत्र देखेंगे—

॥ सप्तम मंत्र ॥ ७ ॥

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ॥
नमो भरन्त एमसि ॥ ७ ॥

" हे अग्ने! प्रतिदिन रात्रीके और दिनके समय हम बुद्धिसे नमन करते हुए तेरे पास आते है। "

इस मंत्रमें पूर्वोक्त आत्माग्नि की उपासना कही है। (दिवे दिवे) प्रतिदिन उसकी भक्ति अर्थात् सेवा करनी चाहिये। तथा (दोषा वस्तः) रात्रीके समय और दिनके समय अर्थात् दिनमें दोवार करनी आवश्यक है। प्रतिदिन दोवार आवश्यक उपासना इस रीतिसे वेदने स्पष्ट कही है।

“ **नमो भरन्तः** ” इसका अर्थ यद्यपि “ नमन करते हुए ” ऐसा ऊपर किया है, तथापि यहां “ नमः ” का अर्थ मुख्यतया “ अन्न ” प्रतीत होता है। क्यों कि “ भरन्तः ” क्रियाका अर्थ “ भरण पोषण ” है। केवल हाथ जोडनेसे किसीका भरण पोषण होना अशक्य है। यदि सच्चा भरण पोषण करना हो, तो उसको प्रतिदिन दो वार अन्न अवश्य देनेका प्रबंध करना चाहिये। प्रथम मंत्रके प्रसंगमें “ **अग्निं ईळे** ” का अर्थ स्पष्टीकरणमें बताते हुए कहा ही है कि वहाभी केवल शाब्दिक प्रशंसा का भाव नहीं है, प्रत्युत वहांभी “ **अन्न पान** ” का संबंध है। उसी प्रकार यहां “ **नमः भरन्तः** ” का अर्थ केवल नमन करनेका भाव नहीं है, परंतु दो वार प्रतिदिन अन्न देनेका तात्पर्य है। शरीरमें आत्माका सत्कार करनेकी रीति यहां स्पष्ट होती है। प्रतिदिन दो वार उत्तम पौष्टिक पाचक अन्न जठराग्नि में हवन करना चाहिये, जठराग्नि प्रदीप्त होनेके पश्चात ही हवन होना योग्य है, अन्यथा धूंवा होकर पेट फूल जायगा। जिनको पेट फूलनेकी और ढकार आदिकी अथवा किसी अन्य प्रकार की बदहजमी की शिकायत है, उनको उचित है कि जठराग्नि प्रदीप्त होनेके पश्चात् उसमें एक एक आहुतिका हवन करें, एकदम न खाय, थोडा थोडा अच्छी प्रकार चबाकर भोजन करें। पेटमें जठराग्नि प्रदीप्त न होनेकी अवस्थामें भोजन करनेसे क्या अवस्था होती है, इसका पता उनको लग सकता है कि, जो अग्नि प्रदीप्त होनेके पूर्व ही हवन शुरू करते हैं, जिससे सर्वत्र धूवांही धूवां हो जाता है। अग्नि अच्छी प्रकार प्रदीप्त होनेके पश्चात् एक एक आहुतिका हवन

पूर्वद्वार

उत्तर वेदी

द्वार

आहवनीयाग्नि

पूर्व वेदी

दक्षिण अग्नि

गार्हपत्याग्नि

पश्चिमद्वार

यज्ञशाला

ज्ञानाग्नि सिर

जाठराग्नि

अन्नरस स्थान

नाभि

कामाग्नि

मनुष्यका धड (यज्ञ पुरुष)

पूर्वद्वार सिर-मुख

गला

पेट

सूर्यचक्र

जननेन्द्रिय पश्चिमद्वार गुदा
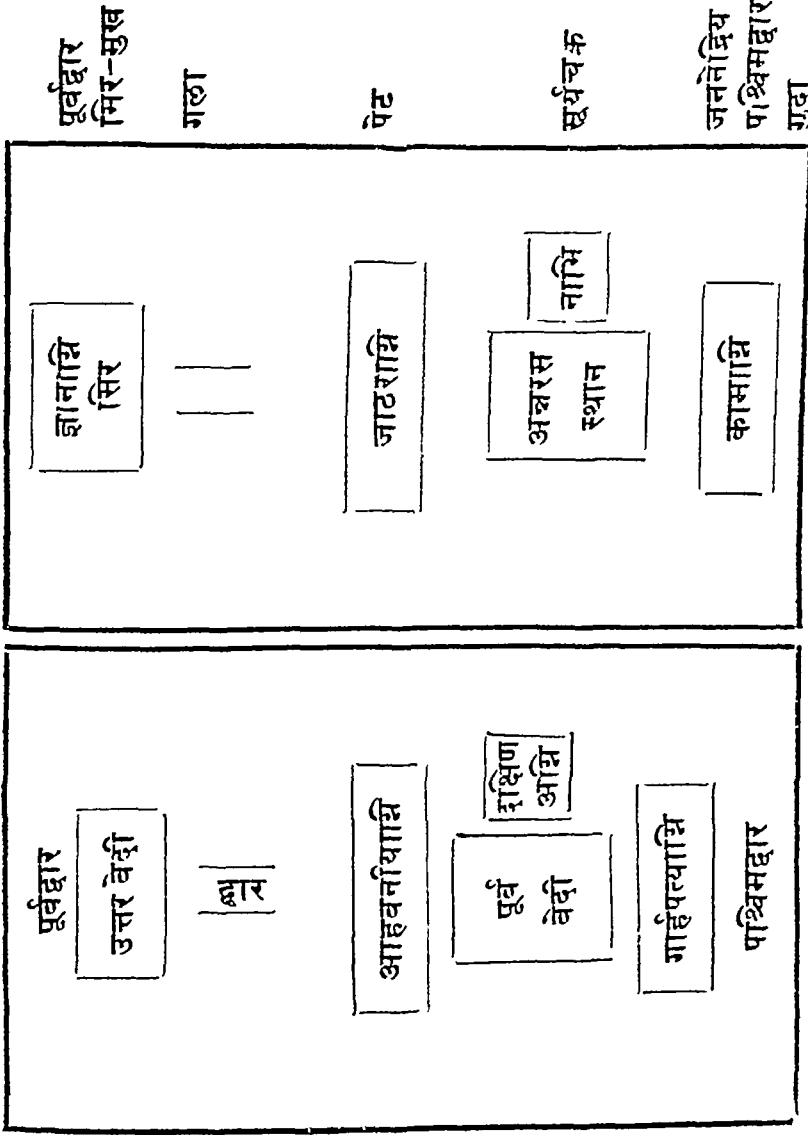
किया जाय, तो अग्निकी प्रसन्नता अनुभवमें आ जाती है। यह हवनका नमूना इसलिये बताया है कि, अंदरकी बातका जनताको पता लगे।

मुखमें अथवा पेटमें " आहवनीयाग्नि " है, इसमें हवन करने की रीति ऊपर बताई है। जननेंद्रियमें " गार्हपत्याग्नि " है, यह स्त्रीके अंदर ऋतुकालमें प्रदीप्त होने लगता है, इस लिये ऋतुगामी होनेसे उत्तम और निश्चित श्रेष्ठ स्वभावकी संतति उत्पन्न होती है। जो कामी लोग इस गार्हपत्याग्निमें प्रतिदिन अप्रदीप्त अवस्थामें हवन करते है, उनकी दोषयुक्त संतति होती है। इन अग्नियोका स्वरूप ध्यानमें आनेके लिये यज्ञशालाका चित्र देखिये—(पृष्ट २०३)

यदि पाठक इन दो चित्रोंको विचार दृष्टिसे देखेगे, तो पुरुषमें " सत्य यज्ञ " कैसा हो रहा है, इस बातका पता लग जायगा, और उस यज्ञका नकशा बाह्य यज्ञमें किस प्रकार खींचा है, यह भी ध्यानमें आजायगा। वेदका सत्य अर्थ ठीक प्रकार समझनेके लिये " पुरुषो वाव यज्ञः " (छा. उ.) यह कथन स्पष्ट रीतिसे समझनेकी अत्यंत आवश्यकता है। " यज्ञ पुरुष " ही (यज्ञस्य देव) यज्ञका देव है (ऋ. १।१।१) और यह अपने शरीरमें बैठा है। पाठको, इस सत्य यज्ञका अनुभव कीजिये।

अपने अंदर इस " यज्ञपुरुष " को अनुभव करना, प्रतिदिन इसकी दोवार उपासना और सेवा करना, सात्विक अन्नसे अपनी सब शक्तियोंका भरण पोषण करना, सुप्रजानिर्माण करके शतायु तक

सौ क्रतु करके शतक्रतु (इंद्र) बनकर अपनी स्वाधीनता संपादन करना, इस वैदिक ज्ञानका मुख्य उद्देश्य है। इस " यज्ञ पुरुष " को अपने अंदर देखनेसे ही आत्मविश्वास बढ जाता है और आत्म-विश्वाससे अपनी सब शक्तियोंका विकास होता है। आत्मशक्तिका विकास करना हीं वैदिक धर्मका ध्येय है।

इस मंत्रमें "**दोषा वस्तः**" पदके अर्थके विषयमें थोडासा विचार करना चाहिये। सब आचार्य इसका अर्थ " रात्री और दिन " ऐसा करते है। परंतु इसमें थोडासा विवाद है। "**दोषा**" शब्दका अर्थ " रात्री, अंधकार " आदि है। और "**वस्तर्=वस्तृ**" का अर्थ ' प्रकाशनेवाला " है परंतु ' दिन " ऐसा किसी कोशमें नहीं है। रात्रि शब्दके साहचर्यसे " वस्तः " का अर्थ " दिन " किया जाता है। परंतु " रात्रीके समय प्रकाशनेवाला, अंधकारमें प्रकाश करनेवाला " यह इस शब्दका सरल अर्थ है। " अंधकारमें प्रकाशनेवाला " ऐसा अर्थ करनेपर यह शब्द "संबोधन" में मानना पडता है और वह "अग्ने" शब्दका विशेषण होता है। " हे (दोषावस्तः अग्ने) अंकारमें प्रकाश करनेवाले ! " ऐसा इसका अर्थ इस रीतिसे होता है। स्वरोंके अनुकूल भी यही अर्थ है। परंतु जो "**दोषावस्तः**" का अर्थ " रात्रीमें और दिनमें " ऐसा करते है उनके मतसे " दोषा " और " वस्तः " ये दो पद अलग रखने पडते है। परंतु पदपाठमें ये पद अलग नहीं रखे है। इतना विचार होनेपर भी इस विषयमें अधिक विचार करनेकी आवश्यकता है। अब अगला मंत्र देखिये—

॥ अष्टम मंत्र ॥ ८ ॥
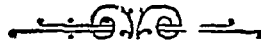
राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ॥
वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

" अकुटिल सत्कर्मोंका प्रकाशक, ऋतका रक्षक, तेजस्वी अपने संयममें बढता है " इस मंत्रका विचार करनेके समय निम्न मंत्रभाग समान होनेसे सन्मुख आते है—

मधुच्छंदा वैश्वामित्रः । अग्निः ।

(१) राजन्तमध्वराणां ॥ ऋ. १।१।८

प्रस्कण्वः काण्वः । अग्निः ।

(२) राजन्तमध्वराणां ॥ ऋ. १।४५।४

(३) पतिर्ह्यध्वराणामग्ने ॥ ऋ. १।४४।९

देवरातः, शुनःशेप अजीगर्तिः । अग्निः ।

(४) सम्राजन्तमध्वराणां ॥ ऋ. १।२७।१

विश्वामित्रः । अग्निः ।

(५) स केतुरध्वराणां ॥ ऋ. ३।१०।४

सध्वंसः काण्वः । अश्विनौ ॥

(६) राजन्तौ अध्वराणां ॥ ऋ. ८।८।१८

वत्सप्रिः । अग्निः ।

(७) नेतारमध्वराणाम् ॥ ऋ. १०।४६।४

भिन्न ऋषि दृष्ट मंत्रोंमें वर्णन की समानता इस प्रकार है। अश्विनी देवोंका भी वर्णन इन्ही शब्दोंसे हुआ है। इसका तात्पर्य यह कि

द्रष्टा ऋषिकी भिन्नता और वर्णनीय देवताकी भिन्नता होनेपर भी "**प्रतिपाद्य विषयकी एकता**" है अर्थात् जो "यज्ञ" अग्निदेवताके मिषसे वेदमें बताया है, वही यज्ञ "अश्विनौ" देवताके नामसे वर्णन किया है। और इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके वर्णनोंसे उसी बातका दर्शन होता है। "अग्नि यज्ञोंका राजा किंवा प्रकाशक अथवा नेता है" यही आशय ऊपरके मंत्रोंका है। यहां इसके द्वारा जो यज्ञ किया जाता है, उसका सविस्तर बर्णन इसी स्पष्टीकरण में इसीसे पूर्व बताया है। उसको देखनेमे पाठकोंको स्वयं अनुभव हो सकता है कि, यह यज्ञोंका राजा कैसा है और किस रीतिसे यज्ञ कर रहा है।

"**ऋतस्य गोपा**" अर्थात् "अनादि सत्य नियमोंका पालन कर्ता" यही है। "ऋत और सत्य" ये दो अनादिसिद्ध त्रिकालाबाधित सत्य नियम इस जगत् में सनातन है। इनका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। इनका संरक्षक यही आत्माग्नि है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये।

(१) **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत॥**

ऋ. १०।१९०।१

(२) **ऋतं पिपर्त्यनृतं नि तारीत्॥** ऋ. १।१९२।२

(३) **ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्ध्यृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः॥** ऋ. ५।१२।२

(४) **ऋतं ऋताय पवते सुमेधाः॥** ऋ. ९।९७।२३

(५) **ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते॥** ऋ. ५।६८।४

(१) प्रदीप्त तपसे ऋत और सत्य उत्पन्न हुए हैं, (२) ऋतका पालन करता है और अनृतको हटाता है, (३) ऋतके जाननेवाले ऋतके नियमको जानो, सनातन ऋतके प्रवाह फैलाओ, (४) उत्तम बुद्धिमान् ऋतके लिये ही ऋतको पवित्र करता है, (५) ऋत नियमसे ऋतका पोषण करनेवाले बहुत सामर्थ्य प्राप्त करते है.

जिन दो अटल सत्य और सनातन नियमोंसे यह जगत् चल रहा है, वे " ऋत और सत्य " ये दो नियम है । ऋतके विषयमें और देखिये—

(१) हंसः शुचिषद्वसुरंतरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥ नृषद् वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥

ऋ. ४।४०।५ कठ ५।२

(२) प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ महा ना. उ. २।७

(३) अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य ॥ तै. उ. ३।१०।६

(४) ऋतं तपः सत्यं तपः ॥ महा. ना. उ. ८।१

(५) ऋतं सत्यं परं ब्रह्म ॥ महा ना. उ. १२।१

(१) (हं+सः) जिस प्राणका बाहिर आनेके समय " ह " ध्वनि होता है और अंदर जानेके समय " स " ध्वनि होता है वह प्राण (शुचि+षद्) शुद्धमें रहनेवाला, (वसुः) निवासक, (अंतरिक्ष-सद्) हृदयके मध्यमें रहनेवाला, (होता) हवन करनेवाला (वेदि-षद्) हृदयकी वेदिमें रहनेवाला, (अ-तिथिः) जिसकी आने-

जानेकी तिथि निश्चित नहीं है, (दुरोण-सत्) स्वस्थानमें रहनेवाला, (नृ+षद्) मनुष्यके अंदर–हृदयमें–रहनेवाला, (वर–सद्) श्रेष्ठ स्थानमें रहनेवाला, (ऋत–सद्) सत्यमें रहनेवाला, (व्योम–सद्) आकाशमें रहनेवाला, (अप्–जा) कर्मके साथ होनेवाला, जीवनके साथ रहनेवाला, (गो–जा) इंद्रियोंके साथ रहनेवाला, (ऋत–जा) ऋतका प्रवर्तक, (अ–द्रि–जा) जडमें रहनेवाला, जो है वही " बृहत् ऋत " है। (२) ऋतका प्रथम प्रवर्तक प्रजापति है। (३) मैं (अहं) आत्मा ऋतका पहिला प्रवर्तक हूं। (४) ऋत और सत्य तप ही है। (५) ऋत और सत्य पर ब्रह्म है।

यह ऋत की महिमा है। ऋत स्वयं आत्माका रूपही है। पूर्व मंत्रमें प्राण और आत्माही ऋत है ऐसा स्पष्ट कहा है, इस लिये आत्माके निज धर्म ही ऋत और सत्य नामसे प्रसिद्ध है। " ऋत " नाम यज्ञकाभी है इसलिये (ऋतस्य गोपा) " ऋतका रक्षक " का अर्थ " यज्ञका रक्षक " भी है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये–

यज्ञस्य देवः । ऋ. १।१।१

ऋतस्य गोपा । ऋ. १।१।८॥ ऋ. ३।१०।२

अध्वराणां राजन् । ऋ. १।१।८

अध्वराणां नेता । ऋ. १०।४६।४

यज्ञस्य नेता । ऋ. २।५।२

यज्ञस्य प्राविता । ऋ. ३।२१।३

यज्ञस्य साधनः । ऋ. ३।२७।८

अग्निदेवता का यह वर्णन एकही भावका द्योतक होना स्वाभाविक है। यज्ञका स्वरूप पहिले निश्चित किया ही है। पुरुषका जीवन यज्ञ ही है, इस जीवनरूप यज्ञका नेता, चालक, रक्षक यही आत्माग्नि है, इसमें कोई शंका नहीं है। यही बात पूर्वोक्त उपनिषद्वचनोंसे सिद्ध हो रही है। वहां भी ऋतका स्वरूप " आत्मा " ही बताया है। इस प्रकार अनेक रीतिसे विचार करनेपर तात्पर्य एकही सिद्ध होता है, यही सत्य अर्थका लक्षण है।

" **दीदिविं** " शब्द इसके पश्चात् आता है। इसका अर्थ " प्रकाशमान् " है। इसके समान जो अन्यत्र मंत्रभाग है उसमें " दीदिहि " पाठ है, देखिये—

मधुच्छंदा वैश्वामित्रः। अग्निः।

गोपामृतस्य दीदिविम् ॥ ऋ. १।१।८

विश्वामित्रो गाथिनः॥ अग्निः।

गोपा ऋतस्य दीदिहि ॥ ऋ. ३।१०।२

उरुक्षय आमहीयवः। अग्नी रक्षोहा।

गोपा ऋतस्य दीदिहि ॥ ऋ. १०।११८।७

थोडासा पाठभेद होनेपर भी अर्थकी एकता ही है "**दीदिवि**" शब्दका अर्थ "प्रकाशमान" है और "**दीदिहि**" का अर्थ "प्रकाशित हो" ऐसा है, इसलिये अर्थकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है।

" **वर्धमानं स्वे दमे** " अपने दमनमें बढनेवाला, अपने घरमें वृद्धिको प्राप्त होनेवाला, यह इसका भाव है। "दम" शब्दका अर्थ " संयम, दमन, आत्मसंयम, मनोविकार और इंद्रिय वृत्तियोंका संयम

मनकी स्थिरता; घर, परिवार " इतना है। संयमसे अपनी शक्ति बढती है। मनोनिग्रहसे आत्मशक्तिका विकास होता है। यही उन्नतिका नियम है।

(१) सत्कर्मोंका फैलाव करना, (२) सत्यनिष्ठा बढानी, (३) अज्ञानांधकार दूर करके ज्ञानका प्रकाश करना, (४) और संयमसे अपनी शक्तिका विकास करना चाहिये। इस मंत्रसे सब मनुष्यों-के लिये यही उपदेश है, और जो आत्मोन्नति चाहते हैं, उनके लिये ये बोध अमूल्य है। इनका पालन करनेसे मनुष्य अग्निके समान तेजस्वी हो सकता है। अस्तु। अब अगला मंत्र देखिये—

॥ नवम मंत्र ॥ ९ ॥
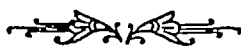
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

" हे अग्ने ! जैसा पिता अपने पुत्रको प्राप्त होता है वैसा तू हमको सुगमतासे प्राप्त हो और हमारे कल्याणके लिये साथ रह।"

जिस प्रकार पिता अपने पुत्रका सदा हित करता है, पुत्रको जिस समय चाहे मिलता है और सदा प्रेमसे बर्ताव करता है, उस प्रकार यह **"यज्ञका देव"** आत्मा उत्तम रीतिसे हमें प्राप्त हो। यहां प्रश्न हो सकता है कि क्या यह दुष्प्राप्य है ? इसका वर्णन देखिये—

तद्दूरे, तद्वंतिके ॥ वा. य. ४०।५

" वह दूर है और वह पास भी है। " अज्ञानियोंको वह बहुत दूर है, परंतु ज्ञानियोंको वह बिलकुल पास है। वास्तवमें यह हृदय-

मेंही रहता है, परंतु ज्ञानपूर्वक भक्तिसे अनुष्ठान करनेवालोंको वह सबसे पास है, परंतु अन्योंको वह बहुतही दूर है। इस लिये इस मंत्रमें प्रार्थना की है कि, वह हमें वैसा प्राप्त हो कि जैसा पिता अपने पुत्रको प्राप्त होता है। और वह प्राप्त होकर हमारे साथ रहे और हमारा (स्वस्ति=सु+अस्ति) उत्तम अस्तित्व सिद्ध करे। उसकी प्राप्ति होनेसे जीवन श्रेष्ठही बनता है। श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनाही सच्चा कल्याणकारी है।

सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय उन्नति चाहनेवालों को इस मंत्रसे बहुतही बोध मिल सकता है। जो अन्योंको सुधार करनेका पवित्र कार्य करना चाहते हैं उनको सबसे प्रथम अपनी योग्यता श्रेष्ठ बनानी चाहिये। (१) जिनका सुधार करना है उनपर पुत्रवत् प्रेम करना अत्यावश्यक है, (२) उनकेपास जाकर उनकी अवस्था देखनी चाहिये, अथवा उनको सुगमतासे प्राप्त होना चाहिये, (३) तथा उनके साथ रहकर उनके सच्चे कल्याणके उपाय सोचना और उनको अमलमें लाना चाहिये।

इस प्रकार इस प्रथम सूक्तका तात्पर्य है। इससे अधिक विचार और तुलना करके अधिक बोध पाठक लेंगे, तो उनका अधिक कल्याण हो सकता है।

ॐ व्यक्तिमें शांति !

जनतामें शांति !!

जगत् में शांति !!!

विषय सूची ।

अग्निदेवता ।

भगवान् श्रीजगन्नाथजी की द्वादश यात्राओं में गुण्डिचा-यात्रा मुख्य है। इसी गुण्डिचा-म
सुभद्राजी की दारुप्रतिमाएँ बनायी थीं। महाराज इन्द्रद्युम्न ने इन्हीं मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया। अन
गुण्डिचा-मन्दिर में यात्रा के समय श्रीजगन्नाथ जी विराजमान होते है। उस समय यहाँ जो महोत्सव हो
शुक्ल द्वितीया को जगदीश भगवान् की सुभद्राजी एव बलराम जी सहित रथयात्रा निकाली जाती है,
मनाया जाता है। इस रथ यात्रा में जगन्नाथजी, बलभद्रजी एव सुभद्राजी के रथ शामिल होते है। वि
खींचते हैं। यह उत्सव अद्वितीय होता है इस प्रकार बलभद्रजी और सुभद्राजी के साथ भगवान् जगन्
करते हुए और अपने अगों का स्पर्श करके बहने वाली वायु के द्वारा समस्त देहधारियों के पापों का नाश
हैं। जो अज्ञानी और अविश्वासी हैं, उनके मन में भी विश्वास उत्पन्न करने के लिये भगवान् विष्णु प्रति
होकर यात्रा करते हुए श्रीजगन्नाथ जी का जो लोग भक्तिपूर्वक दर्शन करते हैं, उनका भगवान् के धाम
जन्मों का पाप नष्ट हो जाता है, रथ में स्थित हो महावेदी की ओर जाते हुए उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण
जन्मों के पापों का नाश कर लेता है।

देवशयनी एकादशी

आषाढ मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी को ही देवशयनी एकादशी होती है। इस
(चतुर्मास) का आरम्भ माना जाता है। इस दिन भगवान् श्री विष्णु क्षीर-सागर में शयन
स्वर्ण-रजत, ताबा या पीतल की मूर्ति बनवाकर उसका षोडशोपचार सहित पूजन करके पीताम्ब
उसे शयन कराना चाहिए। इसके चार माह तक सभी मांगलिक कार्य बन्द रहते है। व्यक्ति को
अभीष्ट के अनुसार नित्य व्यवहार के पदार्थों का त्याग करें। चतुर्मासीय व्रतों में कुछ वर्जना
बोलना, मास, शहद और दूसरे का दिया [illegible] आदि का भोजन करना, मूली [illegible] ढोल एव बैगन